लगता है, जिसका मतलब है— वह हमेशा उस आदमी से पीछे छूट जाता है या इधर-उधर हो जाता है। अकसर वह रेलगाड़ियों में, बसों और रेस्त्राओं में, प्लेटफार्म पर इन्तजार करते हुए—बड़ी ही घबराहट महसूस करता था—पास वाले आदमी से वह बहुत कोशिश करके भी कोई बात नहीं चला पाता—कोई चाहे कितनी ही विकट परिस्थिति हो, बातें करने के सिलसिले में दूसरे आदमी को ही पहल करनी पड़ती थी।

बाजार में तेज धूप-गरमी के बावजूद काफी भीड़-भाड़ थी। कस्बे के लोग तो धन्धों में लगे थे, बाकी आस-पास के गांवों के मर्द-औरतें दुकानों पर जमा थे। कपड़े वालों और बिसाती की दुकानों पर ज्यादा भीड़ थी। वह बिना किसी तरफ देखे और कुछ भी अनुभव किये, सामने आ गये दुकाननुमा रेस्त्रां में घुस गया। दुकान का पंजाबी मालिक चिम्मन रोज की तरह, जांघिया-बनियान पहने—भट्टी के पास बैठा ग्राहकों के लिये चाय बना रहा था। दुकान में दो-चार जंगल विभाग के सिपाही और अस्पताल का काना चपरासी बैठे चाय पी रहे थे। आंख खराब हो जाने की वजह से उस चपरासी का चेहरा काफी बदसूरत हो गया था, लेकिन उसके चेहरे पर उदासी के बजाय हमेशा एक शैतानी-सी खेलती रहती थी—ऐसा लगता था जैसे वह हमेशा किसी न किसी षड्यन्त्र में मुब्तिला रहता हो। इस वक्त वह चिम्मन से बातें कर रहा था। एक-दो सेकन्ड तक तो उसने उसकी बातों की तरफ ध्यान दिया, फिर वह मजबूत से जबड़े वाले ठिगने कद के उस सिपाही की ओर देखने लगा जिसका नाम उसे मालूम नहीं था लेकिन उसे देखते ही हमेशा उसके दिमाग में जोरावरसिंह नाम घूमने लगता था। वह अपने साथ के एक बूढ़े सिपाही से, चाय-बिस्कुट खिलाने के लिये इसरार कर रहा था। वह बूढ़ा सिपाही था तो ५० के आस-पास की उमर का, लेकिन बातें वह बिल्कुल बच्चों की तरह कर रहा था। वह उसे बार-बार और बिस्कुटें मंगाने के लिये कहता था और वह बूढ़ा बड़े ही भोले और अनुभवहीन ढंग से, सिर हिला-कर जिद पकड़ता हुआ मना कर देता था। उसे उस बूढ़े के मना करने का ढंग इतना मजेदार लग रहा था, कि उसे हल्की-सी हंसी आ रही थी—लेकिन वह उसी बीच उस सिपाही को छोड़ कर होटल के मालिक चिम्मन के बारे में सोचने लगा—चिम्मन बोलते हुए हकलाता था और उसे उसकी सारी बातें

सुनने के लिए इतने धैर्य और मानसिक सन्तुलन की जरूरत अनुभव होती थी कि वह बाद में अपनी सहिष्णुता के ऊपर आश्चर्य करने लगता था। लेकिन दरअसल कुछ दिन से अब उसे किसी बात से भी आश्चर्य-उत्सुकता-प्रसन्नता-दुःख कुछ भी अनुभव नहीं होता था। जैसे ही कोई बात शुरू होती वह मानसिक रूप से वहां से अनुपस्थित हो जाता था जैसे जादू से अदृष्ट हो गया हो; उसके बाद वह एक साधारण 'हां हूं' करके ही बात खत्म कर देता था। चिम्मन का बादी से थुलथुल शरीर, चौंपड़ो-सी आवाज और बातें कोई भी उसे पसंद नहीं थी—लेकिन अब वह पसन्द-नापसंद के दायरे से बाहर निकल गया था—चिम्मन को उस चपरासी से बातें करते हुए सुनकर उसने अपनी इस अनुभूति-रिक्तता और मानसिक अनुपस्थिति के बारे में हल्का-सा सोचा, लेकिन वह एक सैकन्ड से ज्यादा उस विषय पर टिका नहीं रह सका। अब उसने एक सिगरेट सुलगा ली और वह उसका इतनी निश्चिंतताई से धुआँ उड़ाने लगा, जैसे उसके मन में कोई गम्भीर उलझन हो ही नहीं—और अब वह थोड़ी देर के लिए दुख को रिक्रिएट कर रहा हो। अपनी इस भाव-अभिव्यक्ति और पोज पर उसे हल्की-सी हंसी आई—उसने सोचा अगर उसका इन दिनों लिखना-पढ़ना बन्द न होता तो अपनी इस मनःस्थिति पर वह एक कहानी लिखता। लिखने-पढ़ने के सिलसिले में उसे याद आया कि वह पहले कितना लिक्खाड़ प्रकृति का आदमी था—दिन भर में दस-बीस कविताएँ और हफ्ते में एक कहानी लिख लेना तो उसके लिये मामूली-सी बात थी—जरा-सी कोई घटना हुई, वह तुरन्त ही उसकी प्रतिक्रिया से उद्वेलित हो उठता था—उस समय अपने दैनिक और व्यावहारिक जीवन के सारे अभावों के बावजूद भी उसमें एक गरिमा और रचनात्मक सक्रियता के कारण जोश था—लेकिन धीरे-धीरे सारी चीजें इतनी अर्थ-शून्य हो गयी कि उसका लिखना-पढ़ना सब कुछ छूटता चला गया—सारी घटनाओं और प्रतिक्रियाओं के बीच वह इस तरह बीच में तटस्थ हुआ बैठा रहता है जैसे वह हाड़-मास का आदमी न होकर कोई काठ का पुतला हो जो बीच में प्रतिष्ठापित कर दिया गया हो। उसे हल्की-सी चिन्ता हुई कि कहीं वह हमेशा के लिये ही तो अपनी लेखन-शक्ति से नहीं चूक गया ? वह यह बात सोच ही रहा था कि बीच ही में चिम्मन ने उसके सामने चाय लाकर रख दी। वह धीरे-धीरे उसको एक-एक घूंट करके पीने लगा लेकिन अब वह लेखन के बारे में कुछ न सोच

शायद कुछ देर और बैठने की उनसे अपेक्षा कर रहे थे—और अगर वह बैठा रहता तो वे कुछ देर और जमते, लेकिन उसके उठकर यह कहते ही "अच्छा मैं अब चलूंगा" वे भी उठ कर खड़े हुए, गिरियाने से बोले, "लीजिये मैं भी उठता हूं—मैं तो आपकी वजह से ही चला आया था।" प्रत्युत्तर में उसे कुछ क्षमा-याचना या जाने के बारे में कुछ स्पष्टीकरण करना चाहिये था, लेकिन ऐसे मौके पर वह एक दुस्तर स्थिति अनुभव करते हुए भी उससे उबरने के लिए एक साधारण-सा झूठा बहाना या एक शब्द तक नहीं गढ़ पाता। इस बार भी वह चुप रहा। मोड़ पर आकर वह एक ओर को अभिवादन करके चल दिया। यदि कोई भी उस समय इन सारी बातों का साक्षी होता तो वह उसके इस बदलते व्यवहार पर आश्चर्य कर सकता था—लेकिन वह बिना कुछ सोचे एक ओर को चल दिया। सड़क से गुजरते हुए वह अनुभव कर रहा था कि लोग उसकी ओर गौर से देख रहे हैं, उसके झुके कन्धों, अतिशय गम्भीर चेहरे और उलझी चाल को। उसने सोचा—क्या उसके चलने-देखने से उसके भीतर का खालीपन व्यक्त होता है? दूसरा आदमी क्या यह अनुभव करता है कि वह अपने मौलिक विचारों से विपरीत अभिव्यक्ति करने की कोशिश कर रहा है? क्या लोग उसे पागल समझते हैं? क्या वह सचमुच में पागल हो गया है? उसे लगा कि उसके भीतर की सारी कल्पनाएं, आवश्यकताएं जिजीविषा-अनुभूति-सम्वेदन सब कुछ रीत गया है और वह एक खाली ढोल की तरह भद्दी आवाज करता हुआ नीचे लुढ़क रहा है। वह अपने आपको लोगों की घूरती आंखों से बचाने की कोशिश करने लगा…… जल्दी से सड़क से कट कर बिल्कुल एक असम्बन्धित गली में मुड़ गया—जिसका आगे-पीछे कहीं उसके घर जाने वाले रास्ते से सम्बन्ध नहीं जुड़ता था।

संदर्भ विहीन

[illegible]

●

इस वक्त मैं ऐसा बैठा हूँ जैसे किसी एक नम्बर पर मैंने कल अपनी पूंजी का दाव लगाया और आज जो नम्बर निकला वह यह घोषित करता हुआ कि मैं हार गया, पूंजी किसी दूसरे की हो गई। किसको?

कल इसी वक्त रात को नौ बजे मैं ब्रजेश के साथ था, ब्रजेश ही क्यों, राजेश भी था और राजीव भी।

प्रस्ताव राजेश का था—"आज तो ब्रजेश की तरफ से हो जाये, आखिर बाप होने का फख्र हासिल किया है।"

राजेश जिसकी कि आदत ही व्यंग्य के कागज़ी जहाज़ उड़ाने की थी, बोला, "मर्दानगी का सबूत दिया है। तीन बेटियों के बाद एक बेटा।" फिर वह मेरी तरफ देख कर बोला, "हमारे यह देवेन्द्र भाई है, पांच बेटे खड़े कर दिये, छठा अब फिर आने को है।"

सीधा मधान मुझ पर था इसलिये मैं भी बचाव के लिये बोला, "क्या करूं, तुम्हारी पौरुषहीनता का पूरक बन रहा हूं। आप तो बेटे-बेटों के लिये एप्लीकेशन ही लिखते रहे, लेकिन रांग एड्रेस करते रहे।"

राजीव ने ठहाका लिया, मेज पर के चाय के सारे प्याले खड़खड़ा उठे। पता नहीं उसने जान कर हँसी को खींच रखा कि हम एक-एक करके उसकी हँसी की संक्रामकता में आते गये और सब उसी के साथ 'हा हा' कर उठे।

थान की, बिना बात की हँसी कुछ सैकंडों तक गोलाई में चक्कर लगाती रही फिर अपने आप ही खामोशी में बदलती गई।

राजेश भी पीछा छोड़ने वाला नहीं था। अपने प्रस्ताव को जरा और रोमान्टिक बनाकर बोला, "ही ही से क्या होता है ? ड्राई ही ड्राई मननेगुरब होती है, ड्रम खोखली ही ही। आज ब्रजेश के कम से कम एक टेनर और एक पचे को हलाल किया जायेगा। उसकी इकलौती वाइफ ने इकलौता बेटा पैदा किया है। हैल सी, द प्राउड मदर ऑफ़ उस बो जीनियस।"

ब्रजेश से राजीव ने पूछा, "मेजबान की क्या राय है ?"

"जैसी सबकी। हलाल होती हुई मुर्गी यह थोड़े ही कहती है 'यहां से आकर हलाल करो', ब्रजेश ने राजेश की तरफ देखते हुए कहा। देवेन्द्र ने कमान की जगह का सुझाव दिया था।"

"थैंक्यू। देवेन्द्र साहब की सुझाई जगह सर्व सम्मति से मान्य। यहां से कूच होनी चाहिये।" पारसी नाटक के हीरो की तरह नाटकीयता से उसने कहा।

"इस चाय का पेमेन्ट आप करियेगा श्री राजेश द कस्सात्र।" मैंने कहा।

"आल राइट। यह भी मंजूर है।" कह कर वह खड़ा हो गया। बिल चुकता करके हम चारों बाहर आ गये।

अपनी-अपनी साइकिल उठाकर चल दिये।

जैसा रेस्त्रां ट्यूब लाइट की रोशनी में चांदनी में तैर रहा था, वैसे ही सड़क और दोनों तरफ के फुटपाथों की दूकानें टैक्नीकलर फिल्म-सी चश्म-सुर्ख हो रही थीं।

मुझे सुबह का ध्यान आया था जब मैं खुशी-खुशी सुनन्दा को बधाई देने गया था—ब्रजेश की वाइफ को।

भाभी बड़े पलंग पर आंख मूंदे लेटी थीं और पास में वह खूबसूरत नन्हा-सा जीव था। वह सो रहा था जैसे बेलौस, मौनी, विदेह। मैंने मुस्कराते हुए कहा था—"बधाई हो।"

और भाभी होठों में हँसी थी, आँख में चमक उतराई थी और धीरे-से पलकों को नीचे झपकाया था जैसे उन्होंने बधाई की स्वीकृति दी हो।

मैंने कहा था—"मिठाई कब खिलाओगी ?"

उसने जवाब दिया था, "तुम खिलाओगे, मैं क्यों ?"

कितनी तृप्तता थी भाभी के चेहरे पर—साधों में की एक अमूल्य साध पूरी हुई थी। "अच्छा मैं खिलाऊंगा, कल" कहकर मैं चला आया था घर। यानी आज मेरा मिठाई खिलाने का वायदा था।

मुझे नहीं पता था राजेश, राजीव आगे-आगे साईकिल पर क्या बात कर रहे थे। ब्रजेश मेरे पास ही साइकिल पर चल रहा था लेकिन चुपचाप सोच रहा था।

अंग्रेजी वाइन की दूकान से वह दोनों जो उनको खरीदनी थी खरीद लाये थे। दूसरी दूकान से साथ के लिये और भी सामान ले लिया था। व्यक्तिगत रूप से मैं एक असमंजस में था—मैंने महीने भर पहले निश्चय

लिया था शराब के हाथ नहीं लगाऊंगा। क्या फायदा, महीने दो महीने में पियो और नाम हो—पीते हैं। भारती को भी आपत्ति रहती है। वह कहती है तुम्हारी आदत बन जायेगी पीने की। वह चाहती नहीं है। अपने पियक्कड़ भाई की दुर्दशा का उसे अनुभव है। पीनी तो पड़ेगी, मैं जानता था। और मैंने कभी भी नहीं चाहा कि साफ मना करके इन लोगों का इन्ट्रेस्ट और मूड दोनों बिगाड़ूँ। जब तक हम राजेश के यहा पहुँचे मैं इस असमंजस को भी अपने से दूर हटा चुका था।

राजेश ने मकान का ताला खोला। हम लोग बैठक में बैठ गये। राजेश ने कोट उतार कर खूँटी पर टांग दिया और आवश्यक सामान इकट्ठा करके बड़ी मेज पर रखने लगा। शीशे के ग्लास, प्लेट्स, पानी का जग। उसने सारा सामान इकट्ठा किया और फिर हम सब उस मेज के चारों तरफ बैठ गये। खाने का सामान प्लेटों में रख दिया, सिगरेट के दो पैकेट सामने आ गये। राजेश ने ही कॉर्क खोली और लल-लल कर ग्लास में शराब उड़ेल दी।

सब ने एक स्वर में कहा, 'फॉर दी लॉग लाइफ ऑफ ब्रजेश मन।' और अपने-अपने होंठों से गिलास लगा दिया।

दौर चला, सुरूर चढ़ा।

राजीव बोला, "ब्रजेश का यह बेटा, ही विल बी ग्रेट मैन वन डे। बड़ा आदमी बनेगा। ए गुड कहानीकार लाइक हिज फादर।"

"नहीं नहीं, वह एक दिन लीडर बनेगा, सम मिनिस्टर।"

ब्रजेश ने सुरूर में पूछा, "नाम, इसका नाम बताओ, कोई बढ़िया नाम।"

राजीव पट से बोला—"तपन।"

राजेश ने काटा, "नो, तपन का कोई अर्थ नहीं - नाम होगा - अवनीन्द्र, अवनीन्द्र अस्थाना, सन् ऑफ ब्रजेश अस्थाना।"

"सुम सुझाओ, प्रोफेशनल राइटर।" ब्रजेश का मेरे कभी - कभी लिखने की तरफ इशारा था। लिखता हूँ कहानी, पर बहुत कमी। जब कभी चढ़ हो जाती है कोई कहानी सिर पर।

कम्बख्त की आदत है गहरी में गहरी चिकोटी भरता है। और ऐसा

बन जाता है जैसे कि बड़ा सीधा आश्रम का कोई बेदुनियादार ब्रह्मचारी हो। पीता है तो कम्बख्त और भी चोटी पर चढ़ जाता है, तब अपने लिखे गीत सुनाता है—रोमानी गीत। गले का मिठास, नशे में दर्द को और मिला लेता है।

ब्रजेश के बेटे होने की खुशी मुझे कम नहीं थी, बल्कि मुझ से जब अतुल ने आकर कहा, "पापाजी, ब्रजेश चाचाजी के बेटा हुआ है, मुन्नी के भैया" तो मुझे ऐसा लगा था जैसे अतुल ने मेरे हाथ में गुलदस्ता पकड़ा दिया था, खुश्बूवाले फूलों का।

मेरी खुशी एक दम उछल आई थी और कुछ क्षणों के लिये मैं इतने वेगवान आह्लाद से भर गया था कि सम्भाल नहीं पाया था अपनी खुशी को। मैंने आरती से कहा, "मैं ब्रजेश के यहां जा रहा हूं, उसे बधाई दे आऊं, उसके बेटा हुआ है।" आरती भी खुश हुई थी, बोली थी, "मैं भी चलूं" लेकिन मैंने रोक दिया, "मैं हो आऊं पहले।"

राजीव ने राजेश के प्रस्ताव का समर्थन किया—आज तो बैठक होगी ही और उसने उर्दू का एक मिसरा बोल दिया, "पीने का मजा तब है कि जब दिल हो शबिस्तां, दो घूंट पी और फिर नशे में आए सौ लानत।"

मैंने बीच में ही कहा, "हद है।"

"हद है बॉर्डर पर।" उसने अपनी कलाई की घड़ी कुर्ते की बांह से निकाल कर देखी, "टाइम मत खराब करो; वक्त थोड़ा है, दूकानें बन्द हो जायेंगी।"

ब्रजेश ने चुपचाप जेब से नोट निकाल दिये, बीस रुपये। कहानी का प्राप्त पारिश्रमिक। "जितना हया रखते हुए ले सकते हो, ले लो।" ब्रजेश होठों में मुस्कराया।

"थैंक्यू।" राजेश ने हाथ में दोनों दस-दस के नोट ले लिये और अपनी मजाकिया टोन से बोला, "हैल शी, द प्राउड मदर ऑफ उड बी जीनियस। हां, तो फिर किसके घर?"

"तुम्हारे यहां? आज कल छूटे बैल हो ना! उस बिचारी को तो गांव पार्सल कर दिया। अनपढ़ गंवार बीवी होने का भी अपना सुख है, चुटकी बजाई और बेवकूफ बनी।" मैंने जैसे बदला लिया हो अपने पर किये गये तानों का।

रोटी एक तरफ की उसने दिखलाई थी, मैंने पलट कर उसकी रोटी की दूसरी साइड दिखा दी। इस हाथ लिया था, दूसरे हाथ लौटा दिया।

सबकी अपेक्षा कम और सीमित पीकर मैंने अपने को बहकने की स्थिति में बचा रखा था। अपने निर्णय के ध्यान ने मेरे हाथ को रोक रखा था। मैंने सुझाया—"आशीषकुमार।"

"वेरी गुड, फाइन," राजेश बोला, "लड़कों का नाम रखते-रखते एक्सपर्ट हो गये हो, आशीषकुमार। ईश्वर लम्बी उमर दे। खुदा करे वह जिये हज़ार साल, कम हो हमारी उम्र से, ले ले उधार साल।"

नशे में कम्बख्त का दिमाग आशु-गढ़न करने लगता है। लिखता है तो कमबख्त पीकर। कवि सम्मेलनों में बोलना है तो पीकर। और हद से ज्यादा जमता है।

दौर चलता रहा। सिगरेटें धुएँ के चकते उड़ाती रहीं। राजेश ने अपने गीत सुनाने शुरू किये। ब्रजेश ने भी अपने गीत सुनाए और हम चारों की महफिल खुशी और मस्ती का रंग माहौल में भरती रही।

बारह बजे उठे। एक बार फिर सबने दुनिया में आने वाले उस मेहमान की लम्बी उम्र तथा सफल भविष्य की कामना की और फिर साइकिलें उठाकर चल दिये।

कल की वह खुशी और खुश्बू भरी रात और आज यह रात! कल जैसे सबके दिल खुल कर आह्लादित हो रहे थे। आज जैसे लोहे के किसी भारी गार्टर के नीचे दबा गया हूँ, सब दब गये। दोपहर को राजीव का टेलीफोन दफ्तर में आया—"ब्रजेश के यहां आओ। उसका बेटा अचानक मर गया।"

मेरे हाथ का टेलीफोन का चोंगा छूटने - छूटने को हो गया। कान में जैसे गंधक का तेजाब उड़ेल दिया। क्यों? कैसे? भी नहीं पूछ सका। मैं दफ्तर से ब्रजेश के घर पहुंचा। हम लोग सब आ गये थे। सुनन्दा भाभी ने मुझे देखा तो आखें डबडबा उठीं। जब हम लोग उसे लेकर चले तो हूक कर रह गई।

और कल का वह नवजात शिशु आज नहीं रहा। तुम्हीं ने उसे बड़ा आदमी, बड़ा नेता क्या नहीं बनाया था? हमीं उसे कुछ न समझकर मिट्टी के नीचे दबा आए।

मैं इस अवशता और अनिवार्य मजबूरी को किस तरह लूं? किस तरह जवाब पाऊं अपने सवाल का कि वह क्यों दो दिन के लिये आया और फिर चला गया? उजाला भी तो नहीं देखा चार दिन?

इस वक्त मैं बैठा हूं, हारा हुआ। जब मेरी यह दशा है तो ब्रजेश कितना दुखी होगा और उससे भी ज्यादा सुनन्दा। एक आकस्मिकता; जैसे महज सपने का भुलाव-भटकाव था कल का दिन, कल की रात, और जैसे नग्न सत्य सामने अपनी पूरी यथार्थता और सार्थकता से खड़ा है कि जीवन और मृत्यु का अंतर है—सिर्फ कुछ पलों का जो सांसों से बंधे रहते है और जैसे ही यह सांसें टूटीं कि यह क्षण भी जीवित नहीं रहते। समय और फासला जैसे संदर्भ विहीन हो जाते हैं।

प्रतीक्षा

नृसिंह राजपुरोहित

●

यों रामगढ़ बीसों बार आया गया हूं परन्तु इस बार वहां जाना काफी दूभर लगा। मन न जाने कैसा ही होने लगा। पहिले जब कभी रामगढ़ जाने का मौका मिलता, मन में बहुत उत्साह रहता, चार दिन पूर्व ही एक अनजानी खुशी में हृदय परिपूर्ण हो जाता। मन हर दम भरा भरा-सा रहता। बस में

बैठता तब तो बस की गति के साथ-साथ खुशी भी बढ़ती जाती और हिचकोलों के साथ उसमे ज्वार भी आता रहता था।

पर आज की दशा बिल्कुल विपरीत थी। गाड़ी से उतर कर बस की तरफ रवाना हुआ तो पैर ऐसे भारी लगे मानो मण-मण के वजन बंधे हुए हों। उदास मन से कैसे ही घसीटते-घसीटते बस में आकर बैठा तो बैठते ही एक जोर के हिचकोले के साथ बस रवाना हो गई। शायद उसे भय था कि कहीं मैं जाना स्थगित नहीं कर दूं, और उतर कर वापिस रवाना नहीं हो जाऊं।

कच्चे मार्ग पर धूल के बादल उठते रहे और हिचकोलों के साथ-साथ छोटे-छोटे गांव पीछे छूटते रहे। अब रामगढ़ प्रतिक्षण निकटतर आने लगा। पहिले पनजी चौहान का कुआँ आएगा और फिर अरणा वाली लम्बी वीथि,दोनों तरफ अरणे ही अरणे खड़े मिलेंगे। वीथि से बाहर निकलते ही रामगढ के पेड़ दिखने लग जायेंगे और फिर तो पलक झपकते ही पहुँच जायेंगे। बस ठहरती है वहाँ काफी भीड़ होगी। किसी को बस में बैठ कर आगे जाना होगा तो किसी को कोई लेने आया होगा। पिछले साल आया जब बापू और किसनू दोनों भाई-बहिन मुझे लेने आए थे। किसनू तो मुझे देखते ही तालियाँ पीट कर नाचने लग गया था कि मामाजी आ गये रे! मामाजी आ गये! और बापू तो शीघ्रता से घर की तरफ दौड़ पड़ी थी—बाई को बधाई देने के लिये कि उसका भाई आ गया है।

'खदीड खदीड, हब्बीड हब्बीड' बस के सूप में मनुष्यों के छोटे-मोटे दाने उछल कर नीचे गिर रहे थे कि इतने में एक जोर का हिचकोला लगा और तन्द्रा टूटी। रामगढ़ आ गया था। बस ठहरी तो लोग-बाग चढ़ने-उतरने लगे। मैं भी नीचे उतरा। और बैग उठाकर रवाना हुआ। भीड़ से बाहर निकला तो टीले पर खड़े एक बालक पर नजर पड़ी। किसनू तो नहीं है कहीं! नहीं नहीं, वह किसनू हरगिज नहीं हो सकता। बाल बिखरे हुए, हाथ-पैरों पर मैल की तह जमी हुई और बदन पर सिर्फ एक मैला-सा कुर्ता। मुंह में हाथ का अंगूठा डाले हुए वह स्थिर दृष्टि से आंखें फाड़-फाड़ के मोटर की तरफ देख रहा था। मैं थोड़ा नजदीक गया। अरे! वह तो सचमुच किसनू ही दिखता है। मेरे विस्मय का ठिकाना नहीं रहा। मैंने धीरे से कहा, 'किसनू', पर उसने कोई ध्यान ही नहीं दिया, उसकी तो नजर बस की ओर थी।

मैंने फिर जोर से कहा—'माणु'। इस बार उसने मेरी तरफ देखा। बड़ी-बड़ी आँखें, श्वेत छोटी-छोटी पुतलियाँ, गालों पर आँसुओं की धारा सूखी हुई। क्षण भर तो वह देखता ही रहा। फिर एकदम मुस्कुराया जैसे कोई भूली हुई बात याद आ गई हो। "मामाजी आप आ गये। मैं तो रोज बस पर आपको लेने आता हूँ।"

"तभी तो मैं तुम्हें मिलने आया हूँ भाणु।"

"पर मेरी बाई कहां है मामाजी ? पिताजी तो रोज कहते हैं कि अब उसे अस्पताल से छुट्टी मिल जायेगी और तुम्हारे मामाजी उसे लेकर आयेंगे।"

वह इधर-उधर देखकर उदास हो गया और मुझे जवाब देना भारी पड़ गया। मैं उस भोले बालक को क्या उत्तर देता ? उसके विश्वास को क्यों खण्डित करता, जिस आशा की डोर पर वह जी रहा है उसे क्यों तोड़ता, जिस रस्से के सहारे वह कुँए में उतरा हुआ था उसे क्यों काटता ? मैंने थोड़ा सम्भल कर कहा—

"बाई अभी बीमार है भाई, जब तक वह पूरी ठीक नहीं हो जाती, उसे अस्पताल से छुट्टी नहीं मिलेगी।" मैंने उसे गोद में उठा लिया।

"कब छुट्टी मिलेगी ? कितने दिन हो गये हैं। मैं रोज राह देखता हूँ। आप सब झूठ बोलते हैं, मुझे फुसलाते हैं।"

वह तंग आकर रोने लग गया। मैं उसे सीने से लगाकर पुचकारने लगा तो हिचकियें भरने लगा। जैसे-तैसे फुसलाकर चुप रखा।

"देख भाई, तू तो समझदार है ना माणु! बाई कितने दिन घर पर बीमार पड़ी रही। अब वह इलाज नहीं कराए तो ठीक कैसे हो, बता? ठीक होते ही मैं उसे लेकर आऊँगा। ये देख तुम्हारे लिये उसने थैली भर कर खिलौने भेजे हैं और कहलवाया है कि इनमें से धापू को एक भी मत देना।"

अब जाकर उसे थोड़ा ढाढस बंधा। आँखें पोंछता हुआ बोला—

"मुझे भी बाई के पास ले चलो ना मामाजी। मैं उसे कोई दुःख नहीं दूंगा। बाई के बिना मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। यहां मुझे पिताजी डाटते हैं और यह धापू तो मुझे रोज ही पीटती है। बाई तो मुझे कभी भी नहीं पीटती थी।"

"तू नानीजी के पास चलेगा भाणू ? वे तुझे खूब प्यार करेंगी और वहाँ तुम्हें कोई नहीं पीटेगा।"

मेरी बात उसे पसन्द नहीं आई। थोड़ी देर ठहर कर बोला—

"मुझे तो बाई के पास जाना है नानीजी के पास नहीं।" फिर मेरा हाथ पकड़ कर बोला—

"मामाजी छोकरे मुझे कहते हैं कि तुम्हारी बाई तो मर गई ! वे झूठ बोलते हैं ना मामाजी ?" मन में एक धक्का-सा लगा तो भी मैंने कहा—'बिल्कुल झूठ बोलते है पाजी। यूँ ही तुम्हें चिढ़ाते हैं।'

घर आया तो मैंने उसे आंगन में उतार दिया। हे राम। इस घर की यह हालत। कहां तो वह झाड़ा-बुहारा हुआ लिपा-पुता देवता गेले जैसा घर और कहाँ यह भूतखाना। जगह-जगह कचरे के ओटे, आंगन के नीम के नीचे बीटों का ढेर, जूंठे बर्तन, भिनभिनाती मक्खियां। सारे घर पर एक अनजानी उदासी, एक अनबोली छाया।

मैंने धापू को आवाज दी तो पड़ौस के घर से दौड़ी आई। पर हमेशा की तरह पैरों से नहीं लिपटी। दस वर्ष की लड़की जाने छह महीनों में ही बूढ़ी हो गई थी। सूखा मुँह, मैले कपड़े, सिर जैसे गौरेया का घोंसला। मैंने सिर पर हाथ फेरा तो जार-जार रोने लगी। बड़ी कठिनाई से चुप हुई।

हाथों हाथ घर की सफाई करके नीम की छाया में खाट पर बैठा तो मन जाने कैसा होने लगा। घर के कोने-कोने से बाई की यादें जुड़ी हुई थीं। ऐसा लगा मानो वह रसोई में बैठी भोजन बना रही है और अभी मुझे बुला लेगी। मानो वह दालान में बैठी गाय दूह रही है, अभी किसनू को गिलास लाने के लिये आवाज दे देगी।

बाई को बीरा गाने का और मुझे बीरा सुनने का कितना शौक था जिसकी कोई हद नहीं। मैं आता उतनी बार पीछे ही पड़ जाता—बाई एक बार तो बीरा सुना दे और वह झीने कण्ठ से शुरू कर देती। आज भी इस अलस दुपहरी में ऐसा लगा जैसे वह सामने बैठी बीरा गा रही है।

बागां में बाज्या जंगी ढोल
सै' रां में बाजी सैंनाई जी

आयो म्हारो जामण जायो वीर
चूनड–तो ल्यायो रेसमी जी ।
मेलूं तो छाव भरोज
तोलूं तो तोला तीस जी
ओढूं तो हीरा खिर जाय
मरूं तो हाथ पचास जी
बागां मे बाज्या जंगी ढोल
सैंरा में बाजी सैनाई जी
आयो म्हारो जामण जायो वीर
चूनड तो ल्यायो रेसमोजी ।

पिछली साल मैं आया तब बैठा बैठा वीरा सुन रहा था और बाई गा रही थी । उस वक्त न जाने गाते गाते क्या हुआ सो कण्ठ भर्रा गया और आँखें भर आई । मैंने उसका हाथ पकड कर कहा, ऐसा क्यों बाई ? तो बोली—'कुछ नहीं भाई, यूं ही न जाने मन कैसा हो गया । तुम रोज वीरा गवाते हो, पर कौन जाने जिस दिन काम पड़ेगा मैं रहूँगी कि नहीं ।'

'तुम ऐसा खराब सोचती ही क्यों हो ।' मैंने कहा ।

'यूं ही रे भाई, इस शरीर का क्या भरोसा । आज है और कल नहीं । दूसरे जिसे जिस चीज की इच्छा ज्यादा होती वह है पूरी नहीं होती है ।'

गले में कांटे से अटकने लगे और नीम पर कौए जोर जोर से बोलने लगे । कांव कांव .... ।

किसनू का ध्यान आया वह किधर गया ? रसोई में धापू बैठी साग काट रही थी । उसे पूछा तो पता पड़ा कि पास के कमरे में सोया होगा । जाकर देखा तो आंगन में फटे पुराने कपड़े बिछा कर सोया था और बांहों में एक ओरणा लिये हुआ था । मैं खड़ा खड़ा उसके मासूम चेहरे को काफी समय तक देखता रहा । वह रह रह कर अपने छोटे-छोटे होठों को शामिल करके नींद में ही स्तनपान की आवाज कर रहा था ।

धापू बोली—'यह रोज रात को ऐसे ही सोता है मामाजी । यदि बाई

के कपड़े इसे ओढ़ने-बिछाने नहीं देवें तो इसे नींद ही नहीं आती। एक रात पिताजी के साथ सोया तो पूरी नींद में बड़बड़ाता रहा। वह कहता है कि इन कपड़ों में मुझे बाई की गन्ध आती है जिससे नींद जल्दी आ जाती है। इसी-लिये पिताजी ये कपड़े धुलवाते नहीं हैं।'

मुझे अपनी पीली गाय का वह बछड़ा याद आ गया जो सिर्फ बीस दिन का था और उसकी मां मर गई थी। तीन दिन तक वह उस जगह को सूंघता रहा जहाँ उसकी मां बाँधी जाती थी। आखिर चौथे दिन करुण स्वर में 'वां वां' करता प्राणमुक्त हो गया। और यह बछड़े जैसा ही अबोध किसनू जो सिर्फ पांच साल का है और उसकी माँ मर गई है, उसे यदि माँ का पसीना सूंघे बिना नींद नहीं आती हो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

थोड़ी देर में वह जग गया तो मैंने उससे कहा—'चल भाणु तुम्हें स्नान करा दूँ। देख तुम्हारे बदन पर कितना मैल जम गया है और कुर्ता कैसा मैला कीच हो गया है। भोले! पहले तू कैसा साफ-सुथरा रहता था और अब तुम्हें क्या हो गया है?,

वह एक शब्द भी नहीं बोला— चुपचाप मेरे पीछे आ गया। पर मैं उसका कुर्ता उतारने लगा तो एक दम गुस्सा होकर बोला, "पहले सिर मत निकालो, पहले बाहों में से कुर्ता उतारो।" मैंने उसने कहा जैसा कर दिया। फिर उसे बाल्टी के पास बिठाकर लोटा भर कर उसके सिर पर पानी डालने लगा तो मेरे हाथ से लोटा छीनकर फेंकता हुआ बोला—

"पहले हाथ पैरों का मैल उतारते हैं या पहिले सिर पर पानी डालते हैं? इतने बड़े हो गये तो भी स्नान कराना नहीं आता। बाई तो सबसे पहले मेरे हाथ पैर भिगो कर धीरे-धीरे मैल उतारती थी, फिर मुँह धोकर प्यार करती और फिर सिर पर पानी डालती थी। आप तो लिया पानी और घडड डाल दिया सिर पर, ऐसे कोई स्नान होता है? यह धापू भी ऐसे ही करती है तभी तो मैं स्नान नहीं करता हूँ।"

मुझे दुख में भी हँसी आ गई। मैंने कहा – 'अच्छा भाई, बाई कराती है वैसे ही मैं स्नान कराऊँगा, फिर तो ठीक है ना।' मैं उसके हाथ पैर भिगोकर डरते-डरते मैल उतारने लगा। क्या भरोसा गुस्से में आकर इस
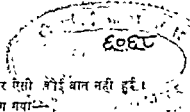
यार लोटा कही मेरे गर मे ही न जमा दे। पर ऐसी कोई बात नहीं हुई। काम उसकी इच्छानुसार होने मे बातें करने लग गया—

"बाई तो मुझे गोद मे बिठाकर धीरे धीरे दूध पिलाती थी। गरम होता तो पहले अंगुली डालकर देख लेती थी। फीका हो तो थोडी शक्कर और डालती थी और ये पिताजी तो सामने बैठ कर जबर्दस्ती पिलाते है। जोर देकर कहते है पी ऽ पी ऽ। और आप भी पीछे-पीछे 'पीता क्यो नही है रे। पीता क्यो नही है रे!' है हो कैसी डायन जैसी। गुस्सा तो ऐसा आता है कि बाल नोच डालू इसके, और मामाजी, दूध मे घी फिर अलग से डाल देती है। मुझे तो दूध मे तारे देखकर उबकाई आती है। एक दिन तो उल्टी हो जाती। पर नही पीऊ तो पिताजी पीटते है। मामाजी, बाई आवे तब तक आप यही रहना, जाना मत, अच्छा!"

मैं उसे ढाढस बधाता हुआ बोला – "पगले अब तो तू काफी बडा हो गया है। कोई छोटा सा मुन्ना तो है नहीं। सारा दिन बाई-बाई क्या करता है?" उसे फिर गुस्सा हो गया। वह मुह बढाकर बोला – "छोटा नही हू तो क्या आपके जितना बडा हू। बाई तो अभी भी मुझे दूध पिलाकर जाती है।"

उसका हाथ धोते वक्त मुझे उसकी अंगूठा चूसने की बात याद आ गई। हरदम मुँह मे रहने से वह बिल्कुल सफेद पट गया था। पहले तो नही थी उसकी यह आदत। मैंने उससे पूछा—

"बाई तुम्हे किस समय दूध पिलाने आती है, किसनू!"

"किस समय क्या हमेशा रात को आती है। काफी देर आगन मे नीम के नीचे खडी रहती है। फिर धीरे-धीरे पास आकर मुझे प्यार करती है, फिर गोद मे लेकर दूध पिलाती है।"

"हमेशा आती है?"

"हमेशा।"

"कभी गलती नही करती?"

"एक बार मैं पिताजी के साथ सोया था, उस रात बाई नही आई। नही तो रोज आती है।"

मैंने उसे स्नान कराकर कपड़े पहिना दिये, वाल ठीक करके आंखों में काजल डाला तो काफी अच्छा दिखने लगा। मैंने कहा, "देख भाणु, रोज ऐसे सफाई से रहना जिससे वाई तुम्हें खूब प्यार करेगी और मैले-कुचैले रहे तो वह आएगी भी नहीं।" वात उसे पसंद आ गई। गर्दन हिलाता हुआ बोला— "अब रोज स्नान करूंगा, कपड़े भी नये पहनूंगा।"

धीरे धीरे दिन ढल गया। आंगन की धूप रसोई के ऊपर पहुंच गई। नीम पर पक्षी चहचहाने लगे। दालान में खड़ी बछड़ी रंभाने लगी और जीजाजी के घर आने का समय हो गया।

वाई का स्वर्गवास होने के पश्चात् उनकी क्या हालत थी, मैंने सारे समाचार सुन लिये थे। यदि इन बच्चों का बंधन नहीं होता तो कभी का घर-बार छोड़कर भाग गये होते। पर यह एक ऐसी बेड़ी थी जो काटे नहीं कटती थी। इसलिये न चाहते हुए भी उन्हें दूकान पर बैठना पड़ता था और दोनों वक्त उदरपूर्ति भी करनी पड़ती थी।

थोड़ा सा दिन रहा तब वे घर आए और मुझसे मिलकर काम में लग गये। दिन अस्त होने के बाद गाय को दूह कर और धापू के हाथ के कच्चे-पक्के टिक्कड़ खाने के बाद बातें होने लगीं। बाई का प्रसंग आते ही उनकी आंखें डबडबा गईं। वे बोले, "मेरी चिन्ता मैं सहन कर सकता हूं। मेरे देह के पहाड़ को मैं ढो सकता हूं, पर इन बच्चों के दुःख को सहन करना मेरे वश के बाहर की चीज है।"

"धापू को तो फिर भी कैसे भी ढाढ़स बँधा सकते हैं, उसके दुःख को थोड़ा-बहुत हल्का भी कर सकते है पर इस मासूम को कैसे समझाएं, इसे क्या कहकर धैर्य बंधावें। यह न तो दिन में दुख भूलता है न रात में। जिस विश्वास की डोर पर यह जीता है, वह यदि आज टूट जाय तो इसका बचना कठिन है, यह निश्चित है।

"जिस दिन से मैं उसकी मां को अन्तिम विदाई देकर आया हूं, उस दिन से लगाकर आज तक यह रोज बस पर जाता है और उसके आने की प्रतीक्षा करता है। बस भले ही पांच-दस मिनिट देरी से आए, पर इसके जाने में देरी नहीं हो सकती।"

बोलते-बोलते फिर उनका गला भर आया और मेरी आँखों में पानी भर आया।

रामगढ़ में पूरे सात दिन ठहरा। और आठवें दिन रात की मोटर से रवाना हुआ तो बिसनू सोया हुआ था। मैंने उसे जगाने का विचार किया कि दिमाग में एक झटका-सा लगा। कौन जाने बाई नीम के नीचे खड़ी होगी या उसे गोद में लेकर स्तनपान कराना शुरू कर दिया होगा। अतः केवल उसके गाल पर एक हल्का सा चुम्बन देकर मैं रवाना हो गया।

मैं झुकूंगा नहीं

नारायणदत्त श्रीमाली

सन् १२६३ के वैसाख की एक शाम ।

सामन्तसिंह मुट्ठियाँ बांधे व्यग्र-सा इधर से उधर घूम रहा था । तप्त तांवे-सा रंग, वज्र-सी कठोर छाती, फौलाद-सा शरीर, उभरता यौवन और कलाइयों में गजव की ताकत । रणभूमि में ही पैदा हुआ, तलवारों की झंकारों में ही उभरता और

मतवाले लोगों के सोते ही नींद लेने वाला सामन्त । एक-एक दिन में डेढ़-सौ मील घोड़े की पीठ पर भागने वाला, गज़ब का फुर्तीला और अप्रतिम योद्धा । चाहे तो रानों के नीचे घोड़े को रोक कर रख दे, चाहे तो सरपट घोड़े को वह पल भर मिनट में दबाकर उसके मुंह से झाग निकलवा दे, कानों में दो-दो प्रयाण दबाके वह उफनती हुई नदी को पार कर देता । लाल-सिंदूर आंखों के डोरे और आग उगलती हुई नजर, जिस ओर एक बार देख ले वह पसीने से सराबोर वहीं ढेर हो जाय । वही सामन्त आज बेचैनी से इधर-उधर घूम रहा था, उसका चंचल मन उसे शान्ति नहीं दे रहा था ।

जरा सी आहट हुई, उसने घूम कर देखा, सामने मधुर हास से रूप खड़ी थी । रूपमती पोकरण ठाकुर साहब की इकलौती लाड़ली बेटी, और उसके हृदय की दिल धड़कन । सौन्दर्य और शालीनता का एकत्र पुंज - यौवन-सौरभ से सिहरती उसकी सुकुमार देह, अनुराग-दर्प से ज्योतित उन्नत ललाट और सघन केशराशि में से झांकता हुआ शीतल चन्द्र । सौन्दर्य के साथ-साथ उसका हथियारों पर भी असाधारण अधिकार था । उसके कण्ठ में गजब का लोच था, कोकिल की मिठास और चेहरे पर खिलता हुआ उल्लास— सौन्दर्य और कला का अद्भुत समन्वय थी रूप, ऐसी कि जैसे तप्त अंगार पर उछलती हुई पानी की नन्ही-सी बूंद हो । सामन्त उसे पाकर धन्य हो गया था । जैसा वह वीर था वैसी ही उसे मन के अनुरूप छाया मिली थी । स्वतन्त्रता और मर्यादा की हिलोर उसके हृदय में हरदम उछलती रहती ।

दोनों ने दोनों को पहिचान लिया था । दोनों दृढ़ थे, हिम्मत के भण्डार पुरुष थे और दोनों ने अपने जीवन को प्रेम के चरणों पर चढ़ा दिया था । कई बार दोनों चुपचाप बिना परिचरों को साथ लिये घोड़ों पर जंगल में निकल जाते । सामन्त की नजर शिकार पर पड़ती, तब तक रूप का तीर कमाण से निकल कर उसे बेध डालता । सौन्दर्य के साथ-साथ ऐसा अचूक निशाना और साहस देखकर सामन्त अपने आप में फूला नहीं समा रहा था ।

जिस-जिस ने भी दोनों का प्रणय देखा, देखते-देखते ही रह गये । इन दोनों का प्रेम प्रणयियों का आदर्श बन गया । चारणों के गीतों में उन दोनों का प्रणय अमर अभिव्यक्ति पाने लगा ।

सामन्त दूर पश्चिम की ओर ढलते हुए सूर्य को देख रहा था। उसकी रक्तिम किरणें रूप के चेहरे पर नृत्य कर रही थीं। वह रूप की ओर मुड़ा, उसके चेहरे का खिंचाव ढीला पड़ा, कसमसाती मुट्ठियों ने जरा राहत पाई, चेहरे पर कठोरता की जगह कोमलता ने ग्रहण की। बोला सामन्त – "रूप !"

"हां नाथ !" वह और नजदीक आ गई। उसका भोला और सुकुमार चेहरा, और उस पर नृत्य करती हुई पश्चिमगामी सूर्य की रक्तिम किरणों ने सामन्त की आवाज में कोमलता ला दी, उसके सुगंधित श्वास ने उसके हृदय में हलचल मचा दी।

सामन्त आगे बढ़ा और उसके कंधे पर हाथ रख दिया—उसके सारे शरीर में जैसे विद्युत् दौड़ गई।

"आखिर कब तक इस प्रकार चलेगा रूप।" उसकी नजरें रूप की गहरी आंखों में कुछ ढूंढ़ रही थीं। "मेरा प्यासा यौवन कब तक अतृप्त रहेगा ? कब उसे शांति मिलेगी ?"

विवाह-सूत्र में बँधे आज दो महीने बीत चुके थे पर अभी तक सामन्त उसके यौवन को अपनी बाहों में नहीं समेट सका था। प्रणय-सूत्र के पहले की घटना उसकी आंखों के आगे कौंध गई जब रूप ने सिर ऊंचा उठाते हुए कहा था – 'सामन्त !'

सामन्त की नजरें रूप के चेहरे पर टिक गई थीं।

"मैं विवाह-सूत्र में बंधने से पूर्व एक वचन चाहती हूं, दोगे मुझे ?"

सामन्त देखता रह गया था। वह उस सौन्दर्य-पुञ्ज पर सब कुछ न्यौछावर कर देने को तैयार था। बोला, "क्या ?"

आप मुझे विवाह के बाद भी तब तक नहीं छुओगे जब तक आप अपने मारवाड़ की खोई हुई धरती वापिस नहीं ले लोगे। मैं ऐसे पुरुष की पत्नी नहीं बनना चाहती जिसकी मातृभूमि गुलामी की जंजीरों में बंधी छटपटा रही हो।"

सामन्त उसकी ओर देखता रह गया था।

"वचन दो कि जालौर का किला फतह करने से पूर्व मुझसे

शारीरिक संबंध स्थापित न करोगे" – रूप की कोमल आवाज उसके हृदय मे उतरती जा रही थी।

सामन्त एक क्षण भी नही रुका था, उसके हाथो को अपने हाथो में लेकर कहा था, "रूप ! मुझे तुम्हारी शर्त स्वीकार है। यदि मैंने आज से तीन महीनो के भीतर-भीतर जालौर के किले को फतह नही किया तो जीवित ही अग्नि में जल जाऊंगा।"

और रूप मुस्करा पडी थी। उसे विश्वास था सामन्त की क्षमता पर। उसके दिये हुए वचनो पर, उसके दृढ और अजेय पौरुष पर। वह इसी वचन पर सामन्त से विवाह कर उसके महलों मे आ गई थी।

एक क्षण जैसे सारी घटना सामन्त के दिमाग मे घूम गई।

"क्या सोच रहे हो नाथ !"

रूप की आवाज ने सामन्त को एक झटके से वास्तविक धरातल पर ला खड़ा किया। उसने देखा सामने खड़ी रूप उसके चेहरे की बनती-बिगडती रेखाओ का बारीकी से अध्ययन कर रही है। उसने अपने विचारों पर नियंत्रण किया और बोला, "कुछ नही, यो ही देख रहा था अस्तगामी सूर्य को।"

"यही तो मैं भी सोच रही हू कि मेरे सामन्त को डूबता हुआ सूरज क्यों प्रिय लग रहा है ! नाथ, आप राजपूत हैं, राजपूतो की आँखें अस्त होते हुए सूर्य की ओर नहीं, चढते हुए सूर्य की ओर होती हैं।"

सामन्त सकपका गया। वह अपने ही बुने जाल मे उलझ गया था। बोला, "अस्त होते सूर्य को नही रूप। उसकी तड़पती किरणो का नृत्य तुम्हारे चेहरे पर देख रहा था।"

"और मन शायद जालौर के किले की मोटी-मोटी दीवारो से टकरा रहा था ?"––रूप का व्यंग्य चढ़ा।

'रूप !' सामन्त चीखा, जैसे एकाएक उसका पैर तप्त अंगारों पर पड गया हो। उसकी आंखो के डोरे कान तक खिच गये, और रक्त-पुञ्ज जैसे चेहरे पर धधक पड़ा। उसका हाथ स्वतः ही कमर में बधी तलवार की मूठ पर पड़ गया।

'हा नाथ !' रूप उसके सीने के और निकट आ गई। उसकी गरम

सुगंधित श्वास सामन्त के सीने से टकराने लगी। "सिर्फ पन्द्रह दिन बचे हैं तुम्हारी प्रतिज्ञा को। मुझे मंडोर अच्छा नहीं लगता। मेरे सीने में एक आग सी उठ रही है सामन्त ! क्या उसकी लपट तुम अनुभव नहीं कर रहे हो ? आज हमारी ही मातृभूमि पर कायर जफर खां शासन कर रहा है, जालोर की धरती उसके घोड़ों से रौंदी जा रही है। उसकी चीख बार-बार निकल कर इस किले की दीवारों से टकरा रही है और तुम्हारे कानों में उसकी आवाज तक नहीं पहुँचती। क्या माँ की आवाज इतनी कमज़ोर पड़ गई है या बेटे के कान ही बहरे हो गये हैं ? क्या मेरे सामन्त की तलवार इतनी शिथिल...... ! !"

"रूप !" जैसे शेर दहाड़ा हो। किले की दीवारें तक उस आवाज से काँप गई, उसकी आंखों से आग की लपटें-सी निकलने लगीं।

"हां सामन्त ! मैं अभी तक कुंवारी हूं। आज से ठीक सोलहवें दिन मैं पति के रहते अग्नि की गोद में बैठ जाऊंगी। नाथ ! तुम देखना, अग्नि मेरा कितना सुन्दर शृंगार करती है," और कहती-कहती उसकी आंखें फफक पड़ी। एकदम से वह मुड़कर सीढ़ियों मे नीचे उतर गई।

सामन्त खड़ा रहा। अवाक्, निष्प्रभ। उसमें इतनी भी हिम्मत नहीं रही थी कि वह रूप को पुकार कर उसे रुकने को कहे। उसके शब्द बरछी की भांति उसके अन्तर में घुसते ही चले जा रहे थे...रूप...शृंगार...अग्नि-शृंगार, उफ़् ! वह खड़ा न रह सका, बुर्ज के सहारे ही पीछे सिर टेक कर बैठ गया।

उसके सामने पिछली लड़ाई एकदम से घूम गई।

मलिक जफर खां खूंख्वार—ऊँचा कद, आबनूस-सा भारी डीलडौल का फौलादी जिस्म, ऐसा कि जैसे दैत्य हो। पहाड़ी पर बसा जालौर का किला और फिर उसके चारों तरफ चौड़ी खाई। पिछली लड़ाई में ही वह अपने दो हजार राजपूत वीरों को उस खाई में होम कर चुका था। किले पर से अग्निवर्षा होने के कारण उसके हाथियों के हौदों में आग लग चुकी थी, और हाथी चिंघाड़ते हुए उसी की सेना को रौंदते हुए पीछे भाग खड़े हुए थे। दलदली भूमि पर हाथी और घोड़ों के पैर टिकने कठिन हो रहे थे। दो हजार राजपूतों का होम करने के उपरान्त भी उसे विवशत: पीछे हटना पड़ा था, परन्तु

उसके सीने में जो आग लग चुकी थी, वह बुझने वाली नहीं थी। रूप के सौन्दर्य ने उस चिनगारी पर राख की परत डाल दी थी। पर आज क्षणिक वायु के झोंके ने उस पर जमी राख को हटा दिया था, और वह आग उसके अन्तर में पूरे जोरों से धधक पड़ी थी। उसके दांत किटकिटा उठे, मुट्ठियां भिंच गईं, चेहरा खिंचकर कठोर हो गया और आंखों से आग-सी उगलता हुआ वह नीचे उतर पड़ा।

जालौर के किले के चारों ओर राजपूती फौज पड़ी थी। बांके से बांके का मोर्चा था, फौलाद पर फौलाद चोट करने वाला था। अब की सामन्त ने हाथियों पर विश्वास नहीं किया। अपने दायें-बायें चुने हुए घुड़सवार और बीच में सधे हुए दो सौ रथ। रथ के पहिये उस दलदली जमीन पर आसानी से जम सकते थे। घोड़े फिसलते तो रथ उन्हें रोक देता—खाई के एक किनारे से दूसरे किनारे तक राजपूती सेना मोर्चा लिये खड़ी थी।

आज तीसरा दिन था। खाई के उस पार से किले पर से तीरों की बौछार आती और राजपूत उन्हें झेलते हुए खाई पाटने में लगे थे। आसपास के पत्थरों और वृक्षों से उस खाई को पाट कर उस पर से रथ गुजारने लायक रास्ता बनाने में संलग्न थे। जफर खां ने इस खाई को जीवन-मरण का प्रश्न बना लिया था। दिन को राजपूत उस खाई को भरते और रात को जफर खां किले का संचित नाला खोल देता और पानी के बहाव से पेड़ और पत्थरों से बना पुल ध्वस्त हो जाता।

१२६३ के मई की सोलहवीं तारीख ने उगते हुए सूर्य का गरम-गरम रक्त से स्वागत किया। आज की हवा में एक विशेष प्रकार की रौनक थी। राजपूतों का बनाया हुआ पुल पानी के वेग से एक ओर को थोड़ा सा दब गया था। सामन्त चिंघाड़ उठा। उसका धैर्य अब जवाब दे रहा था। उसने रथ में बैठी रूप को देखा जो वीर वेश में सज्जित धनुष पर तीर चढ़ाये सामन्त की आज्ञा का इन्तजार कर रही थी। सामन्त के पचास चुने हुए वीर दूसरी ओर से रातों-रात नाल पार कर किले की दीवार तक पहुंच गये थे, और दीवार पर कमन्द के सहारे दांतों में तलवार पकड़कर चढ़ रहे थे। ऊपर से गरम खौलते हुए तेल की बौछार हो रही थी। और ऊपर चढ़ते हुए राजपूत तेल में भुंज कर एक एक कर नीचे गिर रहे थे।

सामन्त के सामने विकट समस्या थी । उसके सामने खाई मुँह वाये उसकी हँसी उड़ा रही थी । सामन्त का रथ अपनी सेना में एक ओर से दूसरी ओर दौड़ गया । सेना में एक नया जोश आ गया । सामन्त चिल्लाया – "धीर ।"

सेनापति उसके सामने था–हजारों राजपूतों की आँखें सामन्त के चेहरे पर टिकी हुई थीं । उसके एक ही इशारे पर वे फ़ना होने के लिये तैयार खड़े थे ।

सेनापति को देखकर उसकी भुजाएं फड़क उठीं – "धीर । खाई को पाट दो ।"

धीर पलक झपकते समझ गया । वह घोड़े से नीचे उतरा और एक ही क्षण के अन्तराल पर वह खाई के खाली मार्ग पर पत्थरों के ढोंकों पर उल्टा लेट गया । देखते ही देखते सैकड़ों राजपूत खाई की खाली जगह पर उलटे लेट गए । इस छोर से उस छोर तक एक रास्ता बन गया ।

सामन्त की आँखों के कोर पर एक क्षण के लिए धीर के ममत्व से आँसू की बूंद छलकी पर सामन्त ने तीर की नोंक से उसे उछाल फेंका । रथवान का चाबुक जोरों से घोड़ों पर टूट पड़ा और रथ उन राजपूतों की पीठों पर से होता हुआ उस पार निकल गया । उसके पीछे-पीछे अस्सी रथ और निकल गये ।

सामने किले का दरवाजा था । आज जफ़र खुद यमराज–सा द्वार पर डटा सेना का संचालन कर रहा था । जफ़र को देखते ही सामन्त की आँखों के कोये लाल हो उठे, उसके शरीर का खून खौलने लगा, और कानों में मातृभूमि की आवाज गूंज उठी ।

रथ बढ़ा और मारकाट की एक लहर इस छोर से उस छोर तक फैल गई । राजपूतों की लहर पर लहर उठी, और मिटती चली गई, फिर लहर उठती और फिर मिट जाती । कहाँ पन्द्रह हजार तुर्क और कहाँ मुट्ठी भर राजपूत जवान ! पर आज वे कुछ और ही सोचकर आये थे । माँ की छाती पर बेटों के मुण्ड गिरने लगे, अंग-अंग बिखरने लगे, पर कहीं उफ़ नहीं, पानी की माँग नहीं, कराह की चीत्कार नहीं ।

सामन्त के साथ-साथ रथों का रेला आगे बढ़ा । जफ़र ने घोड़ो और हाथियों का युद्ध देखा था, उसे रथों से युद्ध होने की आशा नहीं थी । दलदली भूमि पर जहाँ जफर के घोड़े बिदक रहे थे, वहाँ सामन्त के रथ जम रहे थे ।

तीरों के सन्नाटे में राजपूत आगे बढ़े । चारो ओर मारकाट और प्रलय का सा दृश्य उपस्थित था । रथों को पीछे छोड़ता हुआ सामन्त का रथ आगे बढ़ आया था, उसके दोनों हाथों में पकड़ी तलवार घूम रही थी । वह जिधर जाता, मुण्डों के ढेर लग जाते । आज उसकी कलाइयों में गजब की फुर्ती आ गई थी । उसकी तलवारों की मार प्रलय कर रही थी । रथ मे पीछे खड़ी मर्दाने वेश मे रूप तीरो से मुगलो के आते हुए रेले को रोक रही थी ।

कुछ ही कदमो पर जफर घोड़े की पीठ पर बैठा कहर ढा रहा था । हार और जीत आमने सामने खड़ी थीं । जफ़र को देखते ही सामन्त के तन-बदन मे आग लग गई । वह बढ़ा, पर एक क्षण के अन्तराल पर ही उसका रथवान तीर से विद्ध होकर रथ से नीचे लुढ़क चुका था ।

सोचने का समय नही था । सामन्त ने पलक झपकते रास अपने दातो मे दबा ली और चाबुक का भरपूर वार घोड़ो की पीठ पर पड़ा । घोड़े तिलमिला कर अपने अगले पाव ऊपर उठाये आगे की ओर झपटे ।

......पर...... सामन्त ने देखा, रथ एक तरफ से जोरों से हिचकोले *खा रहा है* ...... *सामन्त ने पुकारा* ... "*रूप !*"

"मैं तैयार हूँ," तीर से एक तुर्क को गिराती हुई वह बोली ।

"देखना रथ इस तरफ से नीचे क्यो झुक रहा है ?" उसकी आखें जफर खा पर थी, जो अवसर का लाभ उठने के लिये उसकी ओर झपटा चला आ रहा था ।

रूप एक क्षण का भी विलम्ब किये बिना रथ से नीचे उतरी । देखा उसकी धुरी टूट गई थी । रथ का पहिया चक्कर खा रहा था । एक क्षण की भी देर होती तो शायद पहिया छिटक कर दूर जा गिरता, और रथ एक तरफ को लुढ़क जाता और उस पर बैठा सामन्त......।

एक ही क्षण में ये सारे विचार रूप के दिमाग में कौंध गये। परिस्थिति नाजुक थी। उसने निराशा से इधर-उधर देखा, तुरन्त एक विचार उसके दिमाग में कौंध गया और उसका चेहरा आह्लाद से खिल उठा। रूप ने तुरन्त अपना दाहिना हाथ धुरी की जगह डाल दिया। पहिया घूमने से उसका हाथ चरमरा उठा और रक्त का फव्वारा वह निकला।

"क्या बात है? रूप!" सामन्त की आवाज़ कानों से टकराई।

"कुछ नहीं, सब ठीक है सामन्त! उसने अपने होंठ जोरों से भींच लिये। रूप का हाथ चरमरा कर घूमने लगा। इसके साथ ही वह भी पहिये से चिपक गई और पहिये के साथ-साथ आगे-पीछे घूमने लगी।

रथ दो कदम बढ़ा और सामन्त के एक भरपूर वार ने ज़फर तथा उसके घोड़े को बीचों-बीच से काट दिया। 'हर हर महादेव' की आवाज जोरों से गूंज उठी। राजपूतों के रेले ने भीषण नाद के साथ किले में प्रवेश किया। ज़फ़र के मरते ही यवन सेना भाग खड़ी हुई।

अब जाकर सामन्त को रूप का ध्यान आया। उसने पीछे मुड़कर देखा, रूप नहीं थी।

"रूप! रूप कहां है?" सामन्त की आंखें चारों ओर देखने लगीं। उसके सारे शरीर से रक्त के फव्वारे बह रहे थे। वह रथ से नीचे कूद पड़ा।

रथ के पहिये पर बाणों से छिदी रूप का हाथ धुरी की जगह रथ के पहिए में था। सामन्त सन्न रह गया। उसने बड़ी कठिनाई से रूप को पहिये से अलग किया। उसका सारा शरीर लहूलुहान हो गया था।

"रूप!" सामन्त का हृदय चीत्कार कर उठा।

रूप ने धीमे से अपनी आँखें खोलीं, बड़ी कठिनाई से उसके बोल निकल रहे थे।..."सामन्त!"

"हां रूप! देख, इधर देख!"

रूप की नजरें एकबारगी चारों तरफ घूम गईं। अस्फुट-सा स्वर निकला...."हम जीत गये न! हमारी धरती आजाद है न!"

"हाँ हाँ रूप! देख, आजाद धरती कैसी मुस्करा रही है। हम आजाद हैं रूप!"

रूप की आँखें एक बार फिर खुलीं। उसके चेहरे पर सन्तोष की मुस्कराहट फैल गई और उसने सदा-सदा के लिये सामन्त की गोद में आँखें बन्द कर ली।

सामन्त का हृदय चीत्कार कर उठा। वह धीरे से उठा, जालौर की उस पवित्र स्वतन्त्र मिट्टी को अपने तथा रूप के ललाट लगा दिया और उसका सिर श्रद्धा से झुक गया।

आज भी रूप की संगमरमर की मूर्ति जालौर के किले के दरवाजे पर स्थित है। लोग उसे स्वतन्त्रता की देवी मानते हैं और आते-जाते लोगों के सिर श्रद्धा से स्वत: ही उसके समक्ष झुक जाते हैं।

उसे वहीं जाने के लिये तैयार प्रतीत हुई।

कुमुद ने पूछा—"मां, कहीं जाना है क्या ? आज इतनी जल्दी कैसे काम शुरू हो गया ?"

"मैं तुझे यही कहने आई थी, कुमा ! वे बैरिस्टर देशपांडे हैं न, उनका सुधाकर परसों ही जर्मनी से इंजिनीयरिंग की उच्च शिक्षा प्राप्त करके आया है। आज वे लोग चाय पर आ रहे हैं। तू भी जरा जल्दी तैयार हो जा! थक तो गई होगी, मेरी बेटी !"

"तो माँ, उनके आने पर, यह इतना तकल्लुफ करने की क्या आवश्यकता ? रोज भी तो हम चाय ढंग से ही पीते हैं। दो जने और आ जाने से क्या फरक पड़ जायेगा ?"

"वह तो ठीक है बेटी ! पर वह इतने दिन बाद विलायत से लौटा है तो मैंने सोचा उसकी पसन्द का भी हमें ध्यान रखना चाहिये। अच्छा, अब देर मत कर, मैं भी जरा ड्राइंग-रूम देख लेती हूँ।"

और कुमुद तैयार हो गई पर माँ की आकांक्षा के विपरीत उसने जार्जेट की एक बेल लगी सफेद साड़ी और रुबिया का सफेद ब्लाउज पहना, रोज की नाजुक सी घड़ी कलाई पर आ टिकी तथा लम्बे बालों की नागिन-सी एक चोटी कमर के नीचे लहराने लगी।

माँ ने देखा, किन्तु कुछ कहने से पूर्व ही बड़ी लिफ्ट कार दरवाजे पर आ लगी। बैरिस्टर साहब और उनका पुत्र बाहर आये। श्री तथा श्रीमती मेजर गोगटे ने प्रसन्न मुख उनका स्वागत किया।

सुधाकर अन्दर आया तब कुमुद से उसका परिचय कराया गया। दोनों चाय के साथ काफी देर तक बातें करते रहे। सुधाकर ने देखा कि कुमुद डाक्टर होते हुए भी शालीन बालिका के समान है और कुमुद ने अनुभव किया कि सुधाकर विलायत जाकर भी भारतीय विनम्रता से ओत-प्रोत है। अंत में, अपने यहाँ आने का निमंत्रण स्वीकार कराकर बैरिस्टर साहब विदा हुए।

लगभग एक सप्ताह बाद बैरिस्टर साहब का पत्र आया। ऐसा लगा जैसे माँ-बाप उसी की प्रतीक्षा में थे। खुशी-खुशी पत्र खोला गया। लिखा था—आपकी पुत्री लक्ष्मी है। जैसी सुन्दर, वैसी ही शालीन। इतना पढ़

लिखकर, बाहरी दुनियां में रहकर भी वह इतनी सलज्ज तथा सुकुमार लगी कि जी चाहता है उसे हमेशा के लिये अपने घर ले आऊँ। आशा है आपको यह रिश्ता नापसंद नहीं होगा—

उसी दिन मिठाई का एक पार्सल तथा तार द्वारा स्वीकृति भेज दी गई। कुमुद को इन बातों की जानकारी नहीं थी। किन्तु, अब जानकर उसे बुरा भी न लगा। सुधाकर को देखकर उसके दिल ने तभी एक मूक सम्मति दे दी थी। उसने न उत्साह दिखाया और न निराशा ही। एक ओर आज्ञा-पालन की बौद्धिकता थी तो दूसरी ओर मन की मुराद बर आई थी।

पांच-छह दिन और बीते। तैयारियाँ प्रगति पर थीं, जेवर बनने जा चुका था, वस्त्रों की खरीद का कार्यक्रम बन गया था कि फिर एक पत्र आया—

आपकी स्वीकृति पाकर धन्य हुआ। कुमुद आपकी इकलौती बेटी है और आप उसके विवाह में कुछ उठा नहीं रखेंगे, फिर भी यहां के समाज में अपनी इज्जत और लड़के पर किये गये व्यय को ध्यान में रखते हुए लड़के की माँ आपसे निम्न प्राप्ति की आशा रखती है :—

(१)	जन्म से अब तक उत्तम परवरिश के लिये	२५,००० रुपये
(२)	जर्मनी आने-जाने का व्यय	१५,००० ,,
(३)	विदेश में शिक्षा का व्यय	२०,००० ,,
(४)	सामयिक अस्वस्थता, आदि	५,००० ,,
(५)	बरातियों के स्वागत सत्कार हेतु	५,००० ,,
	कुल योग :	७०,००० रुपये मात्र

पत्र पढ़कर मेजर साहब का क्रोध आपे से बाहर हो गया। कहने लगे, हम तो स्वयं ही डेढ़ लाख खर्च करना चाहते थे, पर कमीनापन तो देखो लिखते शर्म भी न आई। गुस्सा तो ऐसा आता है, पर लड़की का मुख देखकर चुप रह जाता हूँ। लड़का अच्छा है, सुख में रहेगी कुमा। अच्छा, देखो उसे मत बताना, नहीं तो कभी तैयार न होगी।

ऐसा ही हुआ और तैयारियाँ और भी जोरों से होने लगीं। निमंत्रण पत्र किस-किस को दिये जायें इस पर विचार हो रहा था। पिता बोल रहे थे

और पुत्री सूची बनाती जा रही थी। अचानक अनाज वाले सेठ को आया देख, पिता बोले "बेटी ! मेरी उस रामायण में से चैकबुक तो ले आ जरा।"

चैक बुक ली और फिर काम में लग गये, लेकिन पुत्री की पैनी दृष्टि से ससुराल का यह दूसरा पत्र न छिप सका। उसने देखा कि पिता हर चीज मुझे दिखाते हैं, इसकी तो खबर ही नहीं मिली। जरूर कोई खास बात होगी। झट दो-तीन कोरे कागज तह कर लिफाफे में रखे और चिट्ठी निकाल ली। पढ़ते ही क्रोध और ग्लानि से उसका मुख आरक्त हो उठा। लड़की के पिता होने से ही क्या ऐसा अपमान सहना पड़ता है। उसने देखा पिताजी अभी बैठक में ही हैं, चुपके से जाकर पत्र यथास्थान रखा और कागज निकाल लाई।

इन कुछ ही क्षणों में उसने अपनी राह सोच ली थी। निश्चय की चमक उसके चेहरे पर झलक आई, किन्तु एक ही क्षण; वह फिर अपनी स्वाभाविक मुद्रा में आ गई। भावों के गोपन की चतुराई उसमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। एक कुशल डाक्टर जो थी वह। मरते हुए मरीज को देखकर भी हलकेपन से मुस्करा देना और बेपरवाही का स्वांग भरकर ढाढस बंधाना उसका रोज का काम था। हृदय में तूफान लिये वह ऊपर से वैसी ही शान्त और हँसमुख बनी रही।

एक दिन स्वयं सुधाकर का पत्र आया किन्तु लिफाफे में कुमुद के हस्ताक्षर देख पिता मुस्करा उठे। सोचा—आजकल के बच्चों को धैर्य कहाँ ? विवाह तय हुआ नहीं, कि चिट्ठी-पत्री शुरू। पर यह सुधाकर ! विलायत जाकर भी बच्चा ही रहा। लिखता है—

पिता जी ! पहले इसे पढ़िये !

अरे बेटे ! बिना पढ़े भी हमें पता है, कि इसमें क्या लिखा होगा। ये बात यों ही नहीं सफेद हो गये। सब सोचते-सोचते कुमुद के पत्र में एक बाकी का सवाल देखकर चौंक गये। लिखा था—

(१) पांच वर्ष तक अंग्रेजी आया का खर्च	६,००० रुपये
(२) दस वर्ष कन्वेंट तथा होस्टल में पढ़ाई	१०,००० रुपये
(३) पांच वर्ष मेडिकल कालिज	२५,००० रुपये

(४)	पांच वर्ष से डाक्टरी आय	१४,००० रुपये
(५)	भविष्य में पच्चीस वर्ष तक राजकीय सेवा	७०,००० रुपये
(६)	सेवा निवृत्ति के बाद प्राइवेट प्रेक्टिस	२०,००० रुपये
	कुल योग नकद :	१,४५,००० रुपये मात्र

"इस प्रकार आपके चाहे सत्तर हजार ही खर्च हुए हों, मेरे पिता आपको १ लाख ४५ हजार की सम्पत्ति दे रहे हैं जिसकी परिवार के लिये सेवाएँ इसके अतिरिक्त होंगी। अतः क्षमा करें, इस परिवार में आपके पुत्र का विवाह सम्भव नहीं हो सकेगा।......" एक ओर पिता को अपनी पुत्री के धर्मयुक्त साहस पर अभिमान था और दूसरी ओर इतने अच्छे वर के हाथ से चले जाने का पश्चाताप। वे हतबुद्धि से बैठे ही थे कि मां ने कहा "चलो, अच्छा ही हुआ, ऐसे बनियों से क्या लेन-देन ! पर हां, आपने सुधाकर का पत्र तो पढ़ा ही नही।

अचानक होश में आ पिता ने आँखें पोछीं, चश्मा चढ़ाया और फिर पत्र पढ़ने लगे। इतना अपमानित होने पर भी सुधाकर लिख रहा था—"पढ़ा आपने पत्र पिताजी ! ऐसा प्रेम-पत्र पहले नहीं पढ़ा होगा। आपकी पुत्री की इसी सादगी और निर्भयता ने ही तो खरीद लिया मुझे। मुझे पता नहीं था कि मेरे पिता ने कैसा पांसा फेंका है। लड़के-लड़की का लेन-देन करने वाले पिता के लिए मेरे मन में कोई सम्मान नहीं हो सकता। अच्छा हुआ कुमुद के हस्ताक्षर देखते ही मैंने पत्र चुरा लिया अन्यथा सत्तर हजार के लालच में एक अमूल्य हीरा खो बैठता मैं। अब मैं कल आ रहा हूँ, आप तैयार रहें।

आपका आशीर्वादेच्छु,
सुधाकर

ताकने के लिए। चाँद अस्त हो गया है।

"रमा ! तुम यहाँ ?"

"क्या यहाँ आना मना है ?"

"नहीं-नहीं, मैं कह रहा था—अकेली इस समय......... !"

"पार्क में घूमने जा रही थी, सोचा तुम्हारा साथ हो जाये।" मेरी तरफ से कोई संकेत न पा वह स्वयं कुर्सी खींच कर बैठ गई।

"तुम्हें कोई काम तो नहीं है ?"

"मुझे क्या काम हो सकता है, अभी तैयार हो लेता हूँ" कह मैं जल्दी-जल्दी कपड़े बदलते हुए सोचने लगा।

जिस घर में कोई स्त्री रहती हो, चाहे वह बाहर गई हुई हो—वहाँ किसी भी समय किसी भी लड़की का आना सामान्य बात है, पड़ोसियों को कोई आपत्ति नहीं, परन्तु मुझ जैसे नित्य अकेले रहने वाले के घर कोई रमा-सी सुन्दर लड़की आये, तो पड़ोसियों की छोड़िये—मित्र भी नहीं बख्शते।

मैं पैन्ट के बक्कल बन्द करते हुए, रमा की तरफ देख, उसी में उलझ गया।

आधुनिक विचारों में पली, मितभाषी रमा—मिलने वालों से उन्मुक्तता से मुस्कान बिखेर जब बोलती है, कोई भी जैसे कुछ घुलने लगता है।

रमा बैठने के बाद कैलेण्डरों की तरफ ताक रही थी, वहां से दृष्टि हटा बोली—"कब तक और इन कैलेण्डरों से मन बहलाओगे ?"

मैं अपने को सम्भाल कर कहता हूँ—

"जब तक तुम चाहो।"

"अच्छा ! तो यह बात है" कह कर रमा ने उस बात को टाल दिया और 'तैयार हो गये—चलें" कह कर खड़ी हो गई। उसने एक हल्की-सी अँगड़ाई ली और नीचे फिसल आई चुन्नी के पल्ले को सम्भाल कर मेरे साथ बाहर आ गई।

हम दोनों सूनी सड़क पर एक दूसरे के अङ्ग-स्पर्श को बचाते हुए चलते रहे—कोई कुछ न बोला।

परन्तु मैं अपने आप को बचा कर चलते समय मन ही मन सोच रहा था, कोई मुझे तो रमा के साथ देख न ले। कहीं कोई मेरा अङ्ग रमा को छू न जावे। वैसे जब मैं रमा के घर जाता हूँ, किसी ऐसे अवसर की तलाश में रहता हूँ, जब रमा का हाथ, उसकी अंगुलियों के पोर छू सकूँ। परन्तु आज जैसे सब कुछ गड़बड़ा गया था।

हम बाग के एक हल्के अंधेरे कोने में बैठ गये। अपने स्वभाव के प्रतिकूल आज रमा ने पहल की।

"हाँ तो ब्रह्मचारी जी यह मौन तोड़िये न।"

अपने लिये ब्रह्मचारी शब्द सुनकर मुझे पहली बार लगा-मैंने कोई अपराध किया है और वह सबके सामने प्रकट हो गया।

यद्यपि रमा से मेरा एक प्रकार से पारिवारिक सम्बन्ध बन गया है। मैं कितनों ही बार उसके घर गया हूँ। मिलने-जुलने में जैसे-तैसे अवसर मिला, किसी को अखरे नहीं ऐसी स्थिति में मैंने रमा के बालों को सहलाया है, चिकने गालों पर, गरम ओंठों पर प्यार भरी अंगुलियों के पोर हिलाये हैं, परन्तु इस तरह एकान्त में उसके साथ बैठने का यह मेरा पहला अवसर था। मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था कि क्या कहूँ—क्या बात प्रारम्भ करूँ।

"क्या कहूँ रमा ! ऐसे समय शब्द कहीं खो जाते हैं, इच्छा होती है, कुछ न बोलूँ, बस ऐसे ही .. " कहते-कहते मैंने रमा का हाथ थाम लिया, हल्का सा दबाया, रमा शान्त बैठी रही, फिर वही हाथ 'फोरबिडन फ्रूट' के तनाव में सुकून खोजने लगा। उसका शरीर हल्का-सा झनझनाया, फिर भी वह कुछ न बोली। मेरे हाथ को धीरे से दूर हटा अपने को संयत करते हुए कहा—

"श्याम ! क्यों अपने जीवन को इस तरह बर्बाद कर रहे हो ?"

रमा के उन शब्दों को सुन मैं जैसे कहीं अन्दर से भीग गया था, अपने को सम्भाल कर इतना भर कह सका—

"क्या करूँ रमा, कुछ समझ में नहीं आता। जीना व्यर्थ लगता है—मरना मुश्किल।"

रमा एकाएक गम्भीर हो गई।

"मैं सोचती हूं ऐसे क्षण ही हमें जीवन के स्वर देते हैं, उसको अर्थ कहते हैं। इनसे बचने का प्रयास ही हमें टूटन देता है, जैसे अपने पर झपटी बिल्ली को देख, कबूतर अपनी आँखें बन्द कर लेता है, परन्तु क्या उसकी आँखें बन्द हो कर भी उसे बचा पाती हैं ?"

बल्ब की रोशनी के घेरे में बार-बार गर्म काँच से टकराते पतङ्गों की ओर दृष्टि जमाये रमा कहती रही—

"इस युग ने बड़ी तीव्रता से पुरानी मान्यताएं बदली हैं। सारे संसार के विकास को 'विज्ञान' ने अचानक एक साथ, एक क्रम में कर दिया है। इस नव-क्रम ने हमारे मानस और स्वभाव में एक गहरी दरार बना दी है। हमारा मानस शेष जगत के साथ तीव्रता से आगे बढ़ गया है, और स्वभाव अभी संस्कारों की पकड़ से नहीं छूट पाया है।"

"इस पकड़ ने ही तो हमें निष्क्रियता की उलझन में डाल दिया है।" मैंने मौका पा अपने को उबारना चाहा—परन्तु रमा जैसे आज सब कुछ एक साथ बोल देना चाह रही थी। अपने शब्दों पर जोर दे, कहती रही—

"यही तो वह प्रश्न है, हम जान कर भी अनजान बनते हैं, 'समझ में नहीं आता' कह कर अपने आपको निर्दोष अनुभव करते हैं, अपने को उबारना चाहते हैं।"

मेरे यह कहने पर कि हमारी स्थिति ही ऐसी हैं। हम अकेले कर ही क्या सकते हैं। रमा ने संयत स्वर में कहना प्रारम्भ किया—

"जब प्रतिकूलताओं के प्रति विद्रोह करने की हमारी हिम्मत या सामर्थ्य नहीं है तब समझदारी का कहना है कि उन्हीं के साथ चलते हुए हम सावधानी से किसी मोड़ पर अपना रास्ता अलग बना लें। यह सङ्गत भी है, पक्की सड़क जबतक पूर्ण नहीं बन जाती, कच्चे मार्ग में खड्डे नहीं बनाये जाते, उसी पर चलते हुए पक्की सड़क का निर्माण किया जाता है।"

वह रुकी, एक हल्की झलक आई, पसीने की बूंद को पोंछा, और जैसे मेरी प्रतिक्रिया जानने के लिए एक प्रश्न-भरी दृष्टि मेरी तरफ फैलाई।

एकाएक रमा से इस तरह की गम्भीर बातें सुन कर आश्चर्य हो रहा था, मैं कुछ सोच भी न पाया कि क्या कहूँ। मेरी तरफ से कुछ न पाकर वह थोड़ी सी हल्की हो कहने लगी—

"श्याम ! अब मैं बच्ची नहीं हूँ, सब कुछ समझती हूँ, मुझे मालूम है तुम मुझे पसन्द करते हो, हाँ, मैं इसे पसन्द करना ही कहूँगी, तुम शायद यह कहना चाहो कि मुझे प्यार करते हो। मेरा विश्वास अलग ढङ्ग का है, मेरे अनुसार यह प्यार शब्द अपना पुराना अर्थ खो चुका है, आधुनिक सन्दर्भ मे निरर्थक-महत्वहीन-'डेड' बन गया है।"

मैं चुपचाप जड़-सा बना सुनता रहा—वह कहती रही-"तुम देखते हो ये जो फूल खिल रहे है, ये सुन्दर हैं, सुगन्धित हैं, हम यदि इनके सौन्दर्य को देखकर, इनकी सुगन्ध को पाकर तृप्त होते हैं, यह हमारे मानस के अनुकूल है, और यह मान कर कि ये सिर्फ हमारे लिये खिले हैं, हम इन्हे तोड़ लेते हैं, तब वह हमारा संस्कारगत स्वभाव है। सिर्फ हमारा अधिकार है-सामन्ती स्वभाव।"

सीधी होकर बैठते हुए जैसे एकाएक वह कहीं अन्दर झाँक रही हो—

"बिल्कुल ऐसा ही हमारे आपसी सम्बन्धों के विषय में है। मानसिक रूप से हम पृथक व्यक्तित्व-सम्पन्न साथी चाहते है, जो अपने व्यक्तित्व के प्रकाश से हमें नित्य आलोकित करता रहे-आकर्षित करता रहे। संस्कारगत स्वभाव के अनुसार एक आधुनिक युवक यह चाहता है"—वह हाँफ कर थोड़ी रुकी फिर लेट कर दूर कहीं ताकती हुई कहती रही—

"भोर की प्रथम किरण के साथ उसकी प्रेयसी एक हाथ में चाय की प्याली थामे, दूसरे से उसकी पलकों को सहलाते, कोमल बाँह के सहारे, मधुर स्वर में उसे उठने की मनुहार करे। ऑफिस जाते समय उसे कोट पहनाये, टाई की नोक ठीक करे, मधुर अधरों पर सोये हवाई चुम्बन से उसे विदा करे और लौटने पर इसी तरह स्वागत।"

अनायास एक मधुर प्रसन्नता का भाव मुझमे कौंध आया। मुझे लगा रमा मेरे ही स्वप्न को शब्द दे रही है।

अपनी बात पूरी करते हुए उसने कहा-

"परन्तु जब वह अपनी आवश्यकता की तालिका पेश करती है, युवक का चेहरा विगड़ जाता है। उसका ध्यान तुरन्त अपने किसी मित्र की लेक्चरर पत्नी पर चला जाता है, जो जिम्मेदारियों से रहित अपने पति को नारी का सुख देती है; यद्यपि यह दूसरी वात है कि उसका पति हमेशा इस वात से नाराज रहता है कि वह अपने कॉलेज के साथियों के साथ होटलों में वैठती है, सिनेमा जाती है। खैर! मूल वात यह है कि जिम्मेवारियों से रहित जीवन कभी शांतिमय नहीं वीत सकता।"

रमा के निष्कर्प ने मुझे अचानक उदास बना दिया। मुझे लगा वह कहीं मुझ पर चोट कर रही है, विपय को मोड़ देने के लिये मैंने कहा–

"क्या ये जिम्मेवारियाँ हमें वन्धन में नहीं डालतीं?"

रमा ने विवशता में आते हुए कहा—

"क्या वताऊँ! मेरे पास नये शव्द नहीं हैं, पुराने शव्द वार-वार अर्थ-भ्रम उत्पन्न करते हैं, जिम्मेवारियों से मेरा अर्थ हिन्दी परम्परावादी रूढ़ियों को पूरा करने से नहीं है। मैं कहना चाहती हूँ कि हम अपने सम्वन्धों को नया अर्थ दें। जब हम जानते हैं कि आज हम दो ऐसे किनारों पर खड़े हैं–जो आपस में मिल नहीं सकते, तव क्यों न हम साथ-साथ चलते हुए यदा-कदा अपने मौन से ऊव कर एक दूसरे को पुकारते हुए साथी बन अपना रास्ता गुजार दें। जान वूझ कर वीच की खाई में कूदने से हम एक नहीं वन सकते और वन जायें तो जी नहीं सकते–वैसे भी एकाधिकार में वाधा ही वाधा है।"

टाँगें फैला, हरी दूव पर लेट–आसमान की ओर ताकते हुए जैसे वह किसी न किसी तरह कोई ऐसी वात कहना चाह रही हो जिसे व्यक्त करने में शव्द असमर्थ हों, घटनाओं का कोई क्रम शायद जिसे स्वर दे सके।

"देखो ये कितने नक्षत्र हैं, सव एक-दूसरे के आकर्पण में वँधे चमकते हैं; भूले-भटके इनसे राह पूछते हैं; परन्तु जव इनमें से कोई नक्षत्र अपने पास वाले को अपनी ओर खींचता है, उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को अपने अधिकार में लाना चाहता है, वह नक्षत्र एक प्रकाश की तेज रेखा विखेर कर हमेशा हमेशा के लिए वुझ जाता है। उसे अपनी सीमा में वाँधने का असंङ्गत प्रयास करने वाले को फिर किसी नये नक्षत्र की तलाश में भटकना पड़ता है।"

मुझे लगा—इस तुलना का मेरे पास कोई तोड़ नहीं है। वातावरण की गम्भीरता से बचने के लिये मैंने जब कहा—

"क्या बात है आज तो दार्शनिक बन रही हो।" रमा ने अपनी गर्दन को एक झटका दिया।

"ओह, नो! दर्शन की बात नहीं, इसी तरह यदि हम अपने कक्ष में घूमते हुए उन्मुक्तता से अपने साथ बातें से जितना सम्भव हो बिना किसी पूर्वाग्रह के ले-दे सकें तो हमारा जीवन सार्थक बन सकता है।"

अपने को सहज स्थिति में लाते हुए धीरे-धीरे तुले शब्दों में कहती रही—

"तुम्हें मालूम है, मेरे माता-पिता रमेश से मेरी शादी करना चाहते है, एक तरफ वे मुझे एम० ए० पास करवाना चाहते हैं दूसरी ओर रमेश जैसे भावनाहीन, अल्प शिक्षित लड़के से मेरी शादी करना चाहते हैं; मैं समझती हूँ यह उनके मानस और संस्कारों का संघर्ष है। उनका मानस चाहता है, उनकी बेटी एम० ए० पास हो, योग्य हो, दूसरी तरफ उनके संस्कार कहते है, रमेश सम्पत्तिशाली है, उनकी जाति का है। अब तुम सोचो—इस असङ्गत स्थिति में क्या कोई अपने जीने को अर्थ दे सकता है?"

मैंने एकाएक अपने को हल्का महसूस करते हुए कहा—"यही तो मैं कहता हूँ, तुम विरोध क्यों नहीं करती?" रमा जैसे यह सुनने को पहले से ही तैयार थी।

"विरोध का अर्थ यही है कि मैं किसी और का पल्ला पकड़ूँ। मैं अपने व्यक्तित्व को स्वतन्त्र रखना चाहती हूँ। हाँ, कोई ऐसा साथी मिलने पर सोचूंगी।"

मैंने अनुभव किया, रमा ने कहीं मुझे बुरी तरह पराजित किया है। अपने को सम्भाल कर जब मैंने कहा—

"कैसी बातें करती हो रमू?"

"मैं ठीक कहती हूँ श्याम! मुझे किसी दूसरे जीवन में विश्वास नहीं है, अतः इस जीवन को भावुकता में आकर मैं कहीं खोना नहीं चाहती—जहर नहीं बनाना चाहती।"

"फिर तुम क्या चाहती हो ?" मेरे इस प्रश्न से वह एकदम गम्भीर हो गई जैसे कहीं अपने में खोई, बाहर झांकते हुए धीरे-धीरे शब्द उगलने लगी—

"मैंने परसों एक स्वप्न पढ़ा है तुम शायद मुझे समझा सको–कोई कॉलेज का छात्र है, उसे हर रात प्रायः एक ही जैसा स्वप्न आता है, चारों ओर हरे-भरे मैदानों से घिरी एक साफ नीले पानी की झील, वह उस झील में तैरता है, एक सुन्दर लड़की, घने बाल, भारी आँखें, गोल चेहरा, लम्बी अंगुलियाँ, गठे हुए नुकीले उरोज, पतली कमर, सुडौल जंघायें, मुलायम पिंडलियाँ, उसके साथ बाँहों में बाँहें डाले, पैरों में पैर फँसाये तैरती रहती है, तैरती रहती है, वह कुछ नहीं बोलती, सिर्फ मुस्कुराती रहती है। और जब चाँद डूबता है, वह हल्की सी पलकें मूंद कर कहती है—

'मैं.........जाऊँ ?'

उस समय जैसे ही वह युवक उसे चूमना चाहता है, उसकी आँख खुल जाती है।

"श्याम ! मुझे उस भोली लड़की तथा उस बेसमझ लड़के पर तरस आती है।

और पतंगे के लिए

शमा बुझ गई

प्रकाश माथुर

●

बोझिल पलकों पर नींद की खुमारी की अभी अन्तिम पर्त उतरने के प्रयास में थी और महेश के कानों में उसकी माँ के भजनों के स्वर मन्द धीमे-धीमे गिर रहे थे। उन भजनों के स्वरों को सुनकर ही महेश ने अपनी घड़ी पर निगाह डाली तो पाया कि आठ बज रहे हैं, रात अधिक कार्य करने से देर तक सोया था।

महेश ने जब देखा कि मां अभी तक भजन पूजन में लगी हुई है तो वह इस डर से कि मां की चख-चख फिर सुननी पड़ेगी क्योंकि जावित्री की यह हर दूसरे-तीसरे दिन की दिनचर्या हो गई थी कि ईश्वर-भजन के बहाने से वह अपने पुत्र को मनाने के कुछ न कुछ तर्क सोचती रहती थी। जब वह काफी सोच लेती तो फिर अपनी पूजा समाप्त करती और प्रसाद बाँटने के बाद वह महेश को घेरना प्रारम्भ कर देती। या तो इस बीच महेश अपना रास्ता खोज लेता अथवा कुछ न कुछ सोचता रह जाता।

जब आज भी भजन में देर हुई तो महेश अपने आपको इस बोझिल बोरियत से बचाने के लिये गुसलखाने में भागा और 'राधे-राधे,' 'कृष्ण-कृष्ण' करती जावित्री भी गुसलखाने पर पहुँच गई।

महेश को शादी से कोई नफरत नहीं थीं, लेकिन जावित्री की एक ही रट थी कि वह भोलानाथ की लड़की से शादी करे जबकि कान्ति अभी सोलह वर्ष की आयु में चोट खा कर अंधी हो चुकी थी।

"महेश"

जावित्री का कण्ठ स्वर आज अन्य दिनों से अधिक आर्द्र था, आँखें भी जल से पूरित थीं।

महेश बोल न सका, पर आज मां के अनजाने में भीगे स्वर को सुनकर वह चौंका अवश्य था, आज का-सा उसका स्वर, इतना भीगा स्वर उसने न सुना था। यह एक ऐसी स्थिति थी जिसमें महेश अपने आपको आर्द्र-सा, आकण्ठ डूबा महसूस कर रहा था।

एक असहाय नीरवता के बाद जावित्री ने अपने पर काबू पाते हुए पुनः कहा -"बेटा महेश।"

"हां मां।"

..........।

"महेश।"

"मां।"

"बेटा इस बुढ़िया को कब तक सताओगे।"

"मां।"

"तुम्हारी इच्छा है महेश, अंत मे तुम्हें ही करनी है, लेकिन एक बार सोच लो कि मेरे स्थान पर अगर तुम होते तो क्या तुम न चाहते कि तुम्हारे पुत्र तुम्हारी बात मानें, न कि ठुकरा दें। तुम····· "

बीच मे ही बात काटते हुये महेश ने कहा – "माँ, तुम तो एक ही बात की रट लगाये हुए हो, आखिर शादी के लिये मैंने मना कब किया है।"

"लेकिन हर बात मे तुम्हारी यह जिद मानने वाली माँ को क्या यह भी हक नही है कि वह अपनी मनपसंद लड़की को बहू बनाये।"

"फिर वही, माँ, मैंने कहा कब कहा··· "

"लेकिन फिर भोलानाथ की लड़की के साथ····· "

"उफ् ! माँ। तुम तो भोलानाथ की लड़की नही उसका······"

" ···· धन लाना चाहती हो क्यो, और उस अंधी लड़की को तेरे मढ़ना चाहती हूँ।"

"माँ।"

"बेटा, बहुत-सी ऐसी बातें होती हैं जिन्हें न तुम समझ सकते हो न तुम्हारी उम्र के लोग। यदि कान्ति अंधी है तो क्या है ? वह हर काम मे पटु है। भरी जवानी मे यदि उसकी आँखें चली गई तो क्या वह अब इस लिये शादी न करने काबिल है। आखिर उसकी शादी तो होनी ही है।"

"लेकिन माँ, मैं कह जो चुका, और क्या मेरे नाम ही उसका पट्टा लिखा है, माँ···· "

"···आगे कहो न कि मैं अपनी जवानी एक अंधी के माथे नही होमना चाहता हू, उसकी भी जवानी है· ·"

" ··ठीक है माँ, तुम शादी करना चाहती तो और बात है, लेकिन तुम तो भोलानाथ के ध "

"ऐसा न कह बेटे, मैं भोलानाथ के धन पर नहीं रीझी हूँ।" महेश के मुख पर जावित्री हाथ रखते हुए बोली – "मुझे उसके धन से कोई लोभ नही है, यदि तू मेरे पास है तो दौलत और जायदाद मेरे पास है, लेकिन एक लड़की की जिन्दगी का सवाल है। तू समझदार लेखक है। जितना तू दुःख को समझेगा और कोई क्या समझेगा।"

"माँ।"

"महेश, याद रख जीवन में धर्म कमाने के चन्द ही मौके आते हैं। यदि तुझमें हिम्मत है तो मैं सारी दौलत पर भी लात मार दूँगी, पर मैं कान्ति को, उस अपाहिज को ही बहू बनाना चाहती हूँ। मैंने तेरे बचपन से उसे तेरे लिये सोचा था, और अब भी मैं तेरे लिये ही समझती हूँ।"

"माँ तुम नहीं जानती कि आँखों के होते हुए भोलानाथ कभी अपनी लड़की हमें देते। फिर आज तुम धन नहीं चाहती। लेकिन कल को तुम ही शायद दहेज के मामलों को लेकर गृह युद्ध छेड़ दोगी।"

"महेश।"

एक तीखे ठण्डे कण्ठ स्वर से महेश अभिभूत हो उठा।

"महेश।"

फिर वह स्वर समान स्तर पर आया।

"हाँ माँ।"

"मैं तुम से अब यह सब नहीं कहूँगी। मेरा क्या है. मैं कल मरी, परसों दूसरा दिन" और वह चलने लगी तो महेश ने उसे पकड़ते हुए कहा—

"माँ, तुम हमेशा मुझे अपने वाग्जाल में इसी तरह खींच ले जाती हो। मेरी ओर भी तो देखो माँ, आखिर मेरे भी तो कुछ अरमान हैं।"

"......और कान्ति के भी अरमान हैं, मेरे भी अरमान हैं, उस माँ के भी अरमान हैं जिसने तुझे इतना बड़ा तथा यह कहने लायक बनाने में न जाने कितने अरमान नष्ट किये हैं।"

एक स्वाँस में कहे इन शब्दों के कारण फूले स्वाँस को ठीक करते हुए जावित्री फिर बोली--"यदि तुझे यह भय है कि मैं तेरे आदर्शों पर चोट कर रही हूँ तो महेश, मैं कसम खाती हूँ कि भोलानाथ की लड़की ही लाऊंगी न कि उनका धन।" एक स्वांस खींचते हुए वह पुनः बोली—"तेरे तो अभी अरमान जिन्दा रहेंगे, लेकिन मैं बुढ़िया, जो केवल इसलिए कि कान्ति न केवल भोलानाथ की बच्ची है, मेरी बच्ची के समान है, मैं अपने बुढ़ापे में भी चूल्हे-चाकी से सिर फोड़ने को उद्यत हो रही हूँ। तुम्हारे अरमान

तो ग्रभी भरे तेल के दीपक-से हैं, जिनको ग्रभी समय के साथ-साथ फलने का ग्रवसर मिलेगा ग्रौर मेरे ग्ररमान उस दिये के हैं जिसका तेल ही नहीं, बाती भी जल कर खाक होने जा रही है।

जावित्री हाँफ कर जमीन पर इस प्रकार बैठ गई जैसे भरी ग्रनाज की बोरी यकायक भरभरा कर फटी हो तथा ढेर हो गई हो।

महेश ने जावित्री को सम्हाला ग्रौर फिर सयत होते हुए कहा–"माँ, ग्राज तुमने मेरे ग्रंतर मे एक ग्राग सुलगाई है, यह ज्योति जो जलना प्रारम्भ हुई है ग्रंत तक जलती रहेगी।" ग्रौर जावित्री को खाट पर बिठा कर महेश घर से शीघ्र ही बाहर हो गया।

जावित्री उसे जाता देख हक्की–बक्की रह गई ग्रौर ग्राश्चर्य-मिश्रित प्रेम से ग्रभिभूत हो उठी।

× ×

एक शुभ मुहूर्त में बिना किसी को खबर किये ही महेश कान्ति को ग्रपनी सहचरी बना लाया। उस दिन जावित्री को खुशियो का पारावार नही था। वह ग्राज बावी-भरे खिलौने सी इधर से उधर घूम रही थी।

रात्रि मे महेश ने ग्रपनी सहचरी का मुख-चन्द्र जब बादलो की ग्रोट से निकाला तो एक हूक सी उसके हृदय मे उठी। यह चाँद ग्रद्वितीय सुन्दर था। कान्ति की मुख छवि ग्रवर्णनीय सौन्दर्य-युक्त थी लेकिन प्रकाशहीन नेत्र जो लक्ष्य पर स्थिर नही होते थे, उन्हें देख कर मन के कोने मे कही टीस उठती थी।

महेश रात्रि भर सुबकती कान्ति के मन को ढाढ़स बधाता रहा। कान्ति के दु:ख से महेश इतना ग्रभिभूत हुग्रा कि रात्रि के प्रस्थान की ग्राहट पाकर ही उसे यह ध्यान ग्राया कि कान्ति के दिल से उमड़ते ग्रांसुग्रो के ज्वार को थामते-थामते, उसने ग्रपनी सुहाग रात को काला किया है।

सुबह की ठण्डी बेला मे जब जावित्री ने महेश की खिड़की से ग्रा रही दीपक की रोशनी को देखा तो वह ठिठक कर एक ग्रोर होकर हँस दी तथा उनको निद्रा ग्रामी जान एक ग्रोर हो गई।

× ×

और दिनों की तरह जब जावित्री ने आज भी भोलानाथ के यहाँ से आयी सौगात को स्वीकारा तो महेश के माथे पर बल पड़ गये। उसने माँ से गई बार कहा था कि वह भोलानाथ के यहाँ से आने वाले इस सामान की वाढ़ को रोक दे, लेकिन जब आज भी फिर वही हुआ तो बौखला कर उसने साफ-साफ शब्दों में माँ से कह दिया कि वह यह पसंद नहीं करता है और यदि फिर इस प्रकार से कभी ऐसा हुआ तो वह उससे लड़ बैठेगा।

जावित्री ने अपने सिद्धान्तवादी बेटे के सामने उस दिन यह कह तो दिया था कि वह धन-दौलत नहीं चाहती है, लेकिन दरअसल इस शादी के लिये उसकी एक इच्छा यह भी थी कि वह भोलानाथ की सम्पत्ति पर अपने पुत्र का अधिकार देखे। उसके लिए तो किसी वस्तु की इच्छा नहीं थी, लेकिन ममत्व ने उसे शादी के बाद अंधा कर दिया था। इसलिए अब चोरी छिपे ही जो भी जरूरत होती कान्ति के वहाने सामान आते रहते थे।

घटना-क्रम की एक कड़ी ऐसी जुड़ी कि एक दिन महेश का सारा किला ही हिल उठा। भोलानाथ की फ्लोर मिल का मैनेजर एक दिन उसके दफ्तर में आया और उसे हिसाव समझाने लगा, तो चौंक कर उसने कहा—

'भाई, यह तुम मुझे क्यों समझाते हो?' तो वह बोला—'कंवर साहब, आप क्या वावले वने हैं। यह मिल तो वाई की शादी के दूसरे दिन ही उसके नाम हो गई थी। अब आप आमदनी न लेंगे तो क्या मैं घर ले जाऊंगा?' महेश भौचक्का-सा रह गया। उस दिन वह मैनेजर से तो कुछ न बोला, लेकिन उसने घर पर कान्ति के जरिये मना कराने की सोची और अपने काम में लग गया।

इसी प्रकार से लगभग एक माह बीत गया, लेकिन काम के भार से महेश को मिल वाली वात ध्यान न रही।

एक दिन जव उसने अपने ही आफिस में, अपने कुछ क्लर्कों तथा सह-सम्पादकों को दवी जवान से अपनी चर्चा करते सुना कि—"वड़ा सिद्धान्तवादी वनते हैं साहव, शादी पर तो भोलानाथ जी के यहाँ जल तक भी न पिया, लेकिन अव मिल की आमदनी भी डकार गये है; और तो और, अव तो नई कार भी दरवाजे पर आ खड़ी हुई है।" तव—

इस आखिरी बात से वह चौंका, कई रोज से बाहर होने के कारण इस नये परिवर्तन से वह अनभिज्ञ था। इन बातों को सुन कर उसे बड़ी ठेस लगी और वह विचलित-सा हो उठा।

शीघ्र ही उसने उस दिन का काम समाप्त किया और फिर कुछ उन्मन सा घर चल दिया।

घर पर बरामदे के दक्षिणी कोने पर स्थान न होते हुए भी एक नई एम्बेसेडर कार खड़ी देखी तो कुछ देर तक तो वह उसे आग्नेय नेत्रों से देखता रहा और फिर बोझिल कदमों से माँ के कमरे की ओर चल दिया।

माँ से बातचीत के दौरान ही कान्ति भी कमरे में आ गई और उनकी बातचीत सुनने लगी। कुछ तो महेश आफिस से ही जलाभुना आया था और कुछ माँ के उपदेशों से जलभुन गया। इसीलिये कान्ति को सामने देख कर वह फौलादी ठण्डे स्वर में बोला—"कान्ति।"

"जी।"

"यह कार क्या तुमने मंगाई थी?"

"जी।"

"किसलिए?"

"जी जरा घूमने के——।"

"ओह··"

··· ·· ।

"कान्ति।"

"जी।"

"यह गाड़ी वापिस भिजवा दो, मैं कारों का शौकीन नहीं हूँ।"

"लेकिन—।"

"··· लेकिन-वेकिन कुछ नहीं कान्ति, कार वापिस जायेगी।"

"·· ······इसमें परेशानी क्या है?"

"परेशानी···· ··परेशानी क्यों पूछती हो, पर जाने दो, तुम गाड़ी भिजवा दो।"

"पिताजी नाराज हो जावेंगे तब—"

"और मेरी नाराजी की कोई कीमत नहीं है शायद—कान्ति यह गाड़ी वापिस जावेगी"—महेश के स्वर में आज्ञा-मिश्रित चुनौती थी।

लाड़ में पली कान्ति के अन्दर जो दर्प का सर्प धीरे-धीरे शांत पड़ता जा रहा था, वह तेजी से सर उठा कर फुफकार उठा; लेकिन फिर भी कान्ति ने अपने को शान्त रख कर, अपनी पहली बात को ही दुहरा दिया।

महेश भी यह सुन कर तड़प उठा। थोड़े चीखते और तीखे शब्दों में वह बोला—"कान्ति मैं एक बात एक बार कहता हूँ बार-बार नहीं, लगता है तुम झगड़ा करने पर तुली हो। मैं शादी पर यह स्पष्ट कर चुका था कि मुझे तुम्हारे पिता का कोई धन नहीं चाहिए। लेकिन फिर भी तुम बाज नहीं आती हो, आखिर मेरे अपने रास्ते हैं, अपना सीमित-असीमित समाज है। तुम्हें यह गाड़ी वापिस भेजनी होगी।" यह सब महेश कह तो गया लेकिन फिर अपनी तीखी बात पर स्वयं ही कुछ बोझिल-सा महसूस करने लगा।

इन तीखी बातों ने कान्ति को भी झकझोर दिया और वह तड़प कर बोली-"यह गाड़ी ही क्यों वापिस कर रहे हैं, आप"-उसके अन्दर फुफकार रहा सर्प अब तेजी से दंश के लिए सर उठाने लगा तथा वह बोली—"क्योंकि गाड़ी आपके सिद्धान्तवादी समाज की आँखों में जल्दी ही खटक गई और आप यह सब न सुन सके, लेकिन जब अन्य चीजें आती रहीं तब आप नहीं बौखलाये थे—क्योंकि तब ये छोटी-मोटी चीजें आपके सिद्धान्त के अन्दर दखल नहीं दे सकती थीं, और इसीलिये आप इन्हें रख सक............"

"कान्ति............।"

"क्यों, क्या आप में आपके सिद्धान्तों पर हो रहे सच्चे आघातों को सहने का भी धैर्य नहीं है? जब आपकी माँजी ने मेरे कान खा डाले कि यह भी मँगाओ, वह भी मँगाओ, तब आप चुप रहे और जब मैंने अपने लिए मेरी गाडी मँगाई तब आप के सिद्धान्तों में फर्क आने लगा।" कान्ति प्रायः रूंआसी हो चुकी थी, लेकिन वह बड़ी जीवट की लड़की थी, इसीलिए रो न सकी।

महेश भी बौखला उठा और चीख कर बोला—"कान्ति तुम सीमाएं तोड़ रही हो—"

"जी हां, मैं सीमाएं तोड़ रही हूँ—लेकिन अंधी लड़की से शादी

करने वाला यह भी जानता है कि मेरे धन ने उसकी भी सीमाएँ तुड़वा दी हैं—।"

"कान्ति मैं बहुत सुन चुका—तुम्हारी गाड़ी ही नहीं, सभी स्थावर चीजें भेज दूँगा। "महेश भी इस परोक्ष की चुनौती को सुन कर हिल उठा था, क्योंकि मन के किसी कोने में उसके भी चोर बैठा ही था लेकिन उसे अपने सिद्धान्त इतने प्रिय थे कि वह सब कुछ त्याग सकता था।

कान्ति यह सुन कर थोड़ी मुस्काई और बोली—"जो अब तक खर्च हो गया है, उसका क्या होगा? और मेरे अरमानो से खेली होली का क्या होगा, क्या आप उसे भी चुका सकेंगे?"

"कान्ति, मैं सब कुछ दे सकता हूँ, लेकिन अपने सिद्धान्तो को नही दे सकता मैं हर बात कर सकता हूँ, तुम्हारी चीज को चुका सकता हूँ।" कहने को तो महेश कह गया लेकिन वह जानता था कि हर चीज नही चुकायी जा सकती है।

कान्ति भी तड़प कर बोली—"ओह सुनूँ तो आप क्या-क्या वापिस करेंगे?"

"सभी।"

"क्या वह सब जो आपने पाया है?"

"हाँ कान्ति तुम समझती हो कि मैं धन के लिये झुक जाऊँगा? कदापि नहीं, कान्ति। तुम्हारी माँ की यह भूल थी कि मैं धन का लोभ पा कर पिघल सकता हूँ या शादी के बाद बदल सकता हूँ।"

"लेकिन मैं तो इन चीजो के बिना नहीं रह सकती हूँ, फिर मेरे लिए कहाँ से लायेंगे आप—।"

"कान्ति! यदि मेरी सहचरी बन कर रहना है तो जो कुछ मेरे पास है उस सब को स्वीकार करना पड़ेगा अन्यथा तुम तुम "स्वतन्त्र हो सक ·"

"ओह! यह मैं अच्छी तरह जानती थी कि तुम आँख वाले कभी भी बिना आँख के लोगों के हृदय के अन्तरतममार्गों से हमदर्दी नही रखते। जोड़े को चार ही आँखें प्रेम करा सकती हैं, दो नहीं।"

"कान्ति मुझे समझने में भूल मत करो। तुम ही मुझे मजबूर कर

रही हो कि मैं यह सब कहूँ। वरना मैं तुम से कितना अभिन्न हो चुका हूँ यह तो मेरा हृदय जानता है।"

"मैं क्या जानूँ ? आँखें होती तो कम से कम आपके चेहरे पर आने जाने वाले भावों को देख सकती थी। हे राम, आज मेरे आँखें होती, काश ! मुझे कोई मात्र एक ही आँख दे देता।"

"ओह, मेरे प्रेम का तो यह बदला दे रहे हैं आप, मुझे स्वतंत्र करके।

"कान्ति मैं कहता हूँ कि मैं तुम्हें आँखें भी दे सकता जिससे तुम मेरे मुख पर आते-जाते भावों को पढ़ सकती हो।" कान्ति के दुःख में अभिभूत-सा होते हुए महेश बोला।

"आप अधिक बड़प्पन न बघारें, जो कुछ आ चुका, वह सब आप स्वीकार कर लें, भविष्य में न लूँगी।" समझौते के स्वरों में कान्ति ने अपनी हार मान ली।

लेकिन महेश कान्ति की इस हार में भी विजय देख रहा था, वह कार किसी भी कीमत पर नहीं रख सकता था, अतः बोला—"नहीं, यह वापिस जावेगी।"

"आखिर क्यों ?" पीछे से भोलानाथ जी का आश्चर्य-मिश्रित स्वर सुनाई दिया।

कान्ति "पापाजी" कहती तेजी से उसी ओर बढ़ी। भोलानाथ ने उसे तत्काल बाहों में सम्हाल लिया और कहा—"महेशबाबू, मैंने लड़की दी है तो इसलिये नहीं कि उसकी ये छोटी-मोटी इच्छाएँ भी पूरी न हो सकें। आप न लें, पर मेरी कान्ति को तो लेने दें।"

"लेकिन यहाँ पर नहीं भोलानाथ जी ! आप शौक से घर पर कान्ति के शौक पूरे कर सकते हैं।"

"महेश, तुम बहुत गर्म मिजाज़ हो, समय की रफ्तार और भविष्य की माँग नहीं समझते हो।"

"आप अपने रास्ते पर हैं भोलानाथ जी, मैं अपने। अपने घर में तो

मेरा ही सामान रह सकता है, आपका नहीं; और यदि आपको यह सब पसन्द नहीं तब आप कान्ति को ले······"

"यह मैं बहुत सुन चुकी हूँ।" कान्ति कातर शब्दों में बोली। वह क्षोभ-भरे शब्दों में फिर बोली—"आपने एक मंदी में शादी की, उसके धनी पिता के घर का जल भी न पिया, इस प्रकार से खूब वाह-वाही लूटी अब मेरे सामान का यह नाजायज झगड़ा कर मुझ से छुटकारा चाहते हैं।"

"यदि तुम ऐसा समझती हो तो यह तुम्हारी भूल होगी और यदि यह तुम्हारे मन में मूढ़ हो गया है तो फिर मैं क्या करूँ। मानता हूँ तुम्हारे पिता बहुत कुछ देने की सामर्थ्य रखते हैं, लेकिन मैं भी, याद रखो, तुम्हें दे सकता हूँ, दिया भी है और अब भी बेमिसाल देने की सामर्थ्य रखता हूँ।"

भोलानाथ भी बौखला गये—"आप पता नहीं क्या-क्या देंगे, भगवान जानता है, लेकिन इस समय तो आप मेरी बेटी का जीवन खराब कर रहे हैं। खैर देखूँगा आप क्या दे सकते हैं? आओ कान्ति, चलो, यहाँ अब इस समय ठहरना उचित नहीं—।"

कान्ति ने भी समय की स्थिति को देखते हुए जाना उचित समझा और चल दी, लेकिन तभी जाविश्री तेजी से बाहर आई और तीव्र शब्दों में बोली—"बहू—।"

कान्ति के पैर रुक गये। उसे वास्तविक लाड भरा प्रेम यदि इस घर में मिला था तो जाविश्री से ही।

लेकिन भोलानाथ कान्ति को खींचते हुए ले ही गये।

× ×

सारी रात जब महेश माँ की सिसकियों को सुन-सुन, करवट बदलता रहा तो रह-रह कर दिमाग में यही खटकता रहा कि वह अब यहाँ रह नहीं सकता है, क्योंकि माँ भी पराई हो चुकी है। उसे कान्ति के जाने के समय का माँ का मुख याद आ रहा था कि वह कितनी कातर थी और फिर बार-बार यह भी गूँज रहा था "देखूँगा आप क्या दे सकते हैं।" जिसने उसके फौलादी मन को हिला दिया था।

× ×

गाड़ी की गड़गड़ाहट में महेश ने अपने आपको डुबाने की बहुत कोशिश की लेकिन वह अपने आप को कहीं भुला न सका, तब उसने अपने चारों ओर निगाहें डालीं जिससे साथ के लोगों में वह अपने को कुछ भुला सके।

सिंगल बर्थ पर एक युवती उसे घूर रही थी, और पता नहीं कब से घूर रही थी। लेकिन जब महेश के देखने पर भी उसने आँखें न चुराईं तो महेश को उसमें कुछ दिलचस्पी जगी और वह मुस्करा पड़ा, हालांकि उसके मन की अवस्था इस लायक न थी।

वह घूरने वाली युवती धीर-धीर उठी और उसके पास आई तथा बड़े संकोच के साथ बोली-"क्या आप दिल्ली के महेश जी हैं ?"

"जी हूँ तो महेश ही, पर न जाने आप किस महेश की तलाश में हैं।"

"मैं······शायद समझती हूँ, आप पत्रकार और कवि महेश हैं, दिल्ली के "जीवन" पत्र के यशस्वी पत्रकार।"

महेश को बड़ा अजीब सा लगा, लेकिन वह इस प्रकार के अनजाने परिचयों से काफी अभ्यस्त हो गया था, इसलिये व्यावसायिक मुस्कान बिखेरने का प्रयास करते हुए वह बोला, "जी हाँ। कहिये आप की क्या सेवा करूँ ?"

"जी, मैं बम्बई की रहने वाली हूँ तथा आपके सम्पादकीय और कविताओं की शौकीन हूँ। आज आप अनायास ही मिले हैं, मेरा भाग्य है।"

"आपका धन्यवाद कि आपने हम पत्रकारों के साथ इस प्रकार का सम्मान-प्रद व्यवहार और सौजन्य प्रदर्शित किया।"

लड़की ने मुस्कराते हुए कहा—"आप जैसे सहृदय कवियों से मिल कर किसे खुशी न होगी ? क्या आप अपने अमूल्य समय में से मुझे कुछ दे सकते हैं ?"

"अवश्य ही।"

तब वह युवती–वीणा–बोली—"डाइनिंग कार में चलें, वहां समय मिल सकता है; साथ में इस भीड़ में से कुछ अवकाश भी मिल सकता है।"

अब महेश को मजबूरन उसके साथ जाना पड़ा।

डाइनिंग कार में ही महेश को मालूम हुआ कि वीणा एकाकी है तथा

स्वयं ही कमा कर अपना गुजारा करती है। वह अध्यापक है और उसे भी कुछ लिखने पढ़ने का शौक है।

बातचीत के दौरान जब वीणा को यह मालूम हुआ कि महेश कुछ दिनो के लिये ही बम्बई नही जा रहा है, वरन् बसने के ही लिहाज से जा रहा है तो वह बहुत प्रसन्न हुई कि चलो एक साहित्यिक व्यक्ति से गाडी मे जान-पहिचान हो गई और वह बम्बई ही रहेगा तो उससे उसके शौक मे सहायता मिलेगी, इसीलिये उसने पूछा कि वह कहाँ ठहरेंगे ?

महेश इस बात का शीघ्र उत्तर न दे सका, क्योंकि वह तो बिना किसी लक्ष्य के ही बम्बई जा रहा था जिससे इस व्यस्त महानगर मे अपने को कुछ भुला सके, फिर भी उत्तर तो देना था ही, इसलिये बोला—"कह नही सकता कि कहाँ रहूँगा। अभी तो समस्या यह है कि कही सर छुपाने भर को जगह मिल जाये।"

वीणा बोली—"आप जैसे महानुभावों को कही जगह की कमी रह सकती है ?"

महेश के मुख से तत्काल निकल गया कि वह अभी गुप्त रहना चाहता है।

"क्यों ?" वीणा तत्काल शंका कर उठी। महेश भी अपने मन की बात कह कर सकपकाया था और वीणा भी ऐसा प्रश्न करके पछताने लगी। फिर महेश ने उत्तर दिया—"यूँ ही भीड-भाड से बचने के लिये। फिर हमें जगह देने के लिये आमतौर से कोई तैयार नही होता है; न जाने क्यो लोग अखबार वालों से कटते हैं।"

वीणा ने कहा—"तब तो मैं आपको एक सुझाव दूँ। हमारी कॉलोनी मे एक डा० भाई हैं, गुजराती हैं, अच्छे आंखो के स्पेशलिस्ट हैं तथा आप जैसे लोगों का साथ अधिक पसन्द करते हैं, वह विधुर है तथा बहुत ही सज्जन है। आप कहें तो मैं उनके साथ आपका इन्तजाम करा दूँ।"

महेश कहीं पर आश्रय चाहता भी था सो तत्काल बोला – "अवश्य, यदि आप ऐसा करा सकें, लेकिन वहाँ शान्ति होनी चाहिये।"

"अवश्य, आप मेरे साथ चलें, मैं आपका इन्तजाम करा दूंगी वे भी आप से मिल कर बड़े खुश होंगे।

× ×

महेश को बम्बई आये एक वर्ष पूरा हो चुका था। इस बीच वह न जाने कितनी ही बार वहां से भी कहीं जाने की सोच चुका था, लेकिन डा० देसाई का वात्सल्य उसे बांधे रहा। इस बीच लगातार कई माहों तक अखबारों में विज्ञप्ति निकलती रही थी – भोलानाथ, कान्ति तथा उसकी मां की तरफ से, कि वह लौट आए, लेकिन वह किसी सुमन को साथ लाया था इसलिये नहीं लौट सका और लौट भी जाता लेकिन उसने साफ शब्दों में देसाई को समझा दिया था कि वह उसका भेद न खोलें। देसाई को सारी बातें मालूम हो चुकी थीं। कान्ति की आंखों के बारे में भी वह सुन ही नहीं चुका था, बल्कि वह महेश का मित्र बनकर कान्ति को कई बार देख आया था, लेकिन अपने वायदे का पक्का देसाई, महेश का भेद खोलना चाह कर भी न खोल सका था। हाँ, आँखों के बारे में उसने राय दी थी कि यदि किसी की ताजी आँखें मिल जायें तो मैं वायदा करता हूँ कि नब्बे प्रतिशत आँखों में रोशनी ला सकता हूँ। किन्तु यह तभी सम्भव है जब कोई आँखों का स्वस्थ रोगी मरते समय अपनी आँखों की वसीयत कर दे।

इसी वर्ष में महेश पर एक और गाज गिरी – उसकी माँ का देहान्त हो गया और इस बात को ही लेकर भोलानाथ ने फिर विज्ञप्ति निकाली थी कि वह कम से कम अपनी माँ की लाश ही आकर देख जाय। इसका रेडियो पर भी प्रसारण करवाया, लेकिन महेश जो एक धारणा लेकर आया तो फिर उससे विचलित न हुआ। उसने सोच लिया जब जिन्दा माँ को ही न देख सका फिर मुर्दा को देख कर ही क्या करूंगा ?

इधर वीणा की उससे पहचान क्या हुई, वह उस पर लता के समान छाने को उद्यत हो गई।

इस प्रकार से दूसरे वर्ष का प्रारम्भ हो गया, लेकिन कोई भी मरीज ऐसा न आया जो अपने मन से आंखें दान करता। पैसा लेकर बहुत से तैयार हुए किन्तु महेश इसके लिये तैयार न हुआ। वह किसी की स्वेच्छा की आंखें चाहता था। वह जानता था कि आँखों की कितनी बड़ी

कोमल है। किसी को मजबूर करके आँखें ली तो क्या ली। और अंत में निराश होकर उसने देसाई से कहा कि क्या वह अपनी आँखें दान नहीं कर सकता है? तो देसाई ने यह कह कर टाल दिया कि पहले मृत्यु शय्या पर पहुँचो।

देसाई ने महेश को घर जाने की सलाह दी, लेकिन टेक का पक्का महेश नहीं माना।

× ×

यह दूसरा वर्ष भी समाप्ति पर था और महेश निराश हो चुका था। वह सारा दिन पड़ा रहता। घूमने भी जाता तो मन न लगता था। पिछली पुस्तकों की रायल्टी ही खाने भर को दे रही थी। यूँ उसे खाने की कोई कमी न थी। देसाई उसे अपना छोटा भाई मान चुका था। एक बार पुन महेश ने अपनी आँखों के दान की बात कही तो देसाई ने यही बात गम्भीरता से दुहरा दी। हालांकि कोई अपनी आँखें देना चाहता तो रोक न थी पर देसाई उससे ऐसा न कराना चाहता था। इसीलिये वह हर बार इसे गम्भीरता से ले लेता था। किन्तु इस बार वे देसाई के उत्तर से महेश नाराज हुआ, तथा फिर वह एक दम गुमसुम हो गया। उसे इतनी निराशा और कुण्ठा ने घेर लिया था कि वह किसी से न बोलता, न मुस्कराता था। उसके इस व्यवहार का वीणा पर भी गहरा असर पड़ा और वह उसे छोड़ कर पीछे हट गई।

एक रोज जब बहुत कोशिशों के बावजूद भी महेश सो न सका तो वह मननीय और अकल्पनीय बातें सोचने लगा। अंत में जब उसने अपने विगत के ऊपर सिंहावलोकन किया तो पाया कि वह अब यदि लौटना भी चाहे तो लौट नहीं सकता है तथा उसके जिन्दा रहने के उद्देश्य भी समाप्त हो चुके हैं; अत. वह क्यों न आत्महत्या करले और तभी तत्काल उसके दिमाग में एक बिजली सी कौंधी। कम से कम मर कर तो वह अपनी टेक निभा सकता है। अपनी कान्ति को आँखें दे सकता है, अचानक उसके मन में आया कान्ति उसकी अपनी कहाँ है! किन्तु तत्काल उसका विरोधी मन यह न मान सका और वह कान्ति के प्रेम में अभिभूत हो उठा। कान्ति की हृदयमी उसके लालन-पालन की थी, अंधेपन की निराशा थी, इसलिये उसने दृढ़ निश्चय

कर लिया कि वह अब न जियेगा, हालाँकि उसे कान्ति के लिये ही जीना चाहिये लेकिन वह इतना निराश हो चुका था कि अब मरना ही उसे श्रेयस्कर लगा और वह दृढ़ तथा हल्के मन से अपनी आत्महत्या का पत्र लिखने लगा जिसमें उसने अपनी आँखों की वसीयत कान्ति के नाम करदी।

दूसरे दिन वीणा हांफती हुई देसाई के अस्पताल पहुंची कि महेश जी ने आत्महत्या करली है। देसाई दौड़ा-दौड़ा आया। महेश खून से लथपथ पड़ा था। वीणा रोने लगी थी। देसाई भी नरवस हो रहा था। तत्काल उसे वह अपनी डिस्पेन्सरी में ले गया।

वह निरन्तर चार घंटों तक महेश को जिलाने तथा होश में लाने में जूझता रहा और अंत में वह आंशिक तौर पर सफल भी हो गया। किन्तु खतरे से बाहर न कर सका। जब वह थोड़ा सुस्ता रहा था तो मरी-सी वीणा ने एक पत्र देसाई के हाथों में सौंप दिया। देसाई एक ही साँस में उसे पढ़ गया। वह सकते की सी हालत में आ गया।

इधर महेश भी कुछ-कुछ होश में आ चुका था। उसने देसाई की तरफ कातर भाव से देखा। देसाई को उम्मीद हो आई कि मैं महेश को बचा लूँगा, इसलिये वह महेश के पास गया। तब महेश ने धीरे-धीरे अपना दृढ़ निश्चय दुहराया। देसाई ने उसे समझाया कि वह मर नहीं सकता है और वह उसे मरने देगा ही नहीं, लेकिन महेश ने दृढ़ भाव से कहा—देसाई तुम मुझे मरने से रोक नहीं सकते हो। अब यह तुम्हारी इच्छा है कि तुम एक मरने वाले की बात को ठेल कर अपनी हाँको। मरने वाले रोगी को डा० भी नहीं बचा सकता है जिसमें यदि रोगी जानबूझ कर मरना चाहता हो। अच्छा तो यह है कि तुम चुपचाप कान्ति को लिवा लाओ, मैं दृढ़ विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि जब तक कान्ति नहीं आ जाती, मैं नहीं मरूँगा। जाओ!

इस आखिरी 'जाओ' में इतना दर्द था कि देसाई अपने आपको नहीं रोक सकता था। देसाई फिर महेश से अधिक बहस न कर सका।

देसाई कान्ति को लेने गया और साथ में महेश का रहस्य भी हृदय में छुपाये ले गया।

भोलानाथ सहज ही इस बात पर विश्वास न कर सके कि उनकी लड़की की आँखें भी ठीक हो सकती हैं और रोगी अपनी आँखें भी दे सकता है।

डा० देसाई के प्रस्ताव पर भोलानाथ को इसलिये भी विश्वास हो गया था और उन्हें आश्चर्य भी नहीं था क्योंकि देसाई बीच-बीच में आ भी चुका था और भोलानाथ सहज भाव से ही बम्बई आये थे। उनके हृदय में महेश से ईर्ष्या-सी जाग आई थी यदि कहीं महेश हो तो वह भी देख ले कि वह अपनी बेटी की शादी किस प्रकार से पुनः कर सकते हैं।

डा० देसाई के सिद्धहस्त हाथों ने एक की आँखें दूसरे के लगा दी थी। अब सफलता का परिणाम जानने के लिये तीन माह की लम्बी अवधि का असहनीय इन्तजार करना था, जिसे न केवल कान्ति, भोलानाथ, वीणा और डा० देसाई तथा अन्य भोग रहे थे वरन् मृत्यु के झूले पर झूलता महेश भी इस आशा से भोग रहा था कि देखें मेरी कान्ति के नेत्रों में ज्योति आती है अथवा नहीं। यही कारण था कि वह दवाएं कम लेता था।

जब पट्टी खुलने के बीस दिन रह गये तो डा० देसाई ने महेश को बताया कि अब शत प्रतिशत आशाएं है कि नेत्रो में रोशनी आ सकती है और इसी जरा सी आशा ने महेश को दवाओ के प्रति लापरवाह कर दिया। उसके घाव में फिर से अब मवाद पड़ गया था और वह अपने शरीर में मनमानी करने लगा था।

और वह घड़ी भी आई जब कान्ति की आँखों से पट्टी खुली और उसे सफलता मिली। डा० देसाई भी अपनी सफलता पर धन्य हो उठे, लेकिन इसकी खबर सुन कर महेश प्रसन्न तो हुआ पर वह अब दवाएं लेने से साफ इन्कार करने लगा। वह मृत्यु का इन्तजार करने लगा। वह कान्ति से एक बार मिलना चाहता था और अभी कान्ति मिल नहीं सकती थी।

अन्त में कान्ति को महेश से डा० ने मिलवा दिया।

जैसे-जैसे लोगों की पदचापें महेश के कमरे में आगे और आगे आती जा रही थी, महेश मृत्यु के निकट और निकट भागा जा रहा था।

उसके सनसनाहट और सीटियों से गूंज रहे कानों में केवल इस का इन्तजार था कि वह कान्ति के तथा भोलानाथ के चन्द शब्द सुने ।

भोलानाथ डा० देसाई से बातचीत करते हुए आ रहे थे कि देखें वह कौन महाप्राण है जिसने न केवल अपनी आंखें दीं वरन् वह अपने दान-पात्र के नेत्र ज्योति देखने के लिये तीन माहों से अब तक जिन्दा है और······ आगे के शब्द उनके मुख में ही रह गये । रिक्त आंखों की भयानक कोटरों वाले महेश की क्षीण काया को वे एक ही क्षण में पहिचान गये— वे एक दम पत्थर बन गये, बोल न सके ।

कान्ति की आंखों पर रंगीन चश्मा चढ़ा था तथा वह दूर खड़ी हो गई थी, इसलिये वह महेश को देख नहीं सकती थी, लेकिन जब उसके पिता बोले तो उसने देसाई की तरफ कातर निगाहों से देखा तब देसाई ने रुद्ध कण्ठ से बताया कि तुम्हें आँखें देने वाले तुम्हारे ही पति हैं, और यह सुन कर कान्ति अवसन्न होगई तथा फिर नारी सुलभ भय से तथा क्षोभ से देसाई से लिपट कर फूट-फूट कर रो पड़ी । देसाई के मुँह से एक शब्द भी नहीं निकल रहा था, उसके भी कण्ठ में रुदन उबल रहा था, लेकिन फिर भी वह कान्ति को समझा रहा था ।

महेश ने देसाई को अपने पास बुलाने के कई इशारे किए पर वह कान्ति को समझाने में लगा था अतः देख न सका । अंत में हार कर महेश ने अपनी सारी शक्ति से चिल्ला कर इशारा किया जिसका परिणाम हुआ कि उसके घाव में से रक्त बहने लगा, तब कहीं देसाई को ध्यान आया । वह लपका लेकिन बहुत देर हो चुकी थी । कान्ति तथा भोलानाथ केवल इतना सुन सके कि कान्ति······मैं······दे······चुका आ······आ, और एक महाप्राण का विकल पंछी उड़ गया और एक पंतगे के लिये शमा ही बुझ गई ।

ऐसा क्षेत्र है जहाँ सभी लोगों को कुछ-कुछ काम पड़ता है या काम पड़ने की आशा रहती है। विद्यालय के छात्रों के हृदय बाँसों उछल रहे थे। उनकी चाल-ढाल से ही उनकी प्रसन्नता प्रकट हो रही थी। अब उन्हें उच्च अध्ययन के लिये अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं रहेगी। नगर में उस सुविधा का श्रीगणेश हो रहा था।

निर्धारित स्थान पर बहुत सुन्दर शामियाना लगाया गया था। सारे पांडाल को बहुत अच्छी प्रकार से सजाया गया था। इस सारे आयोजन को सफल बनाने में छात्रों का बहुत बड़ा योग था। जहां हजारों हाथों का सहयोग हो उस व्यवस्था की सुन्दरता के लिये क्या कहा जाय।

सजावट की सुन्दरता तथा कार्यक्रम की सुन्दर व्यवस्था से स्थानीय नगर परिषद् के अध्यक्ष श्री मिश्रा जी के हृदय में जलन हो रही थी। उनके हृदय में विरोध की आग जल रही थी, यद्यपि जनता को दिखाने के लिए वे भी वहां की व्यवस्था में ऊपरी मन से योग दे रहे थे। मिश्रा जी नगर में महाविद्यालय नहीं चाहते हों, ऐसी बात नहीं थी, परन्तु उन्हें नये प्रधानाध्यापक के व्यवहार से क्षोभ था जिसने उन्हें स्वाधीनता-दिवस के कार्यक्रम की अध्यक्षता से वंचित रखा। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता वे पिछले तीन वर्ष से करते आ रहे थे। इस बार नये प्रधानाध्यापक ने उनके स्थान पर एक वृद्ध सेवा-निवृत अध्यापक श्री गोपाल जी पंडित को ला बिठाया। प्रस्ताव सुनते ही मिश्रा जी झल्ला उठे। सभा में बैठे रहना उनके लिये कठिन हो गया। उनका रोष उनके भाषण से भी प्रकट हो रहा था। उनका वश चलता तो वे प्रधानाध्यापक को उसी समय रवाना कर देते। सभा समाप्त होते ही उन्होंने प्रधानाध्यापक के स्थानान्तर के लिये शिक्षा-मंत्री को पत्र लिखा था।

नगर के पश्चिमी भाग से प्रवेश कर जुलूस धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था। शिक्षा-मंत्री की जय के नारों से आकाश गूंज रहा था। ऐसा सुन्दर जुलूस आज तक नगर में कभी नहीं निकला था। इसकी सफलता का कारण सभी दलों का सहयोग और छात्रों का परिश्रम था। शिक्षा-मंत्री एक खुली कार में मिश्राजी के साथ बैठे थे। सबसे आगे राष्ट्रीय अनुशासन योजना की वाद्य मंडली थी, उसके पीछे राष्ट्रीय-छात्र-सेना (NCC) के छात्र थे। इन

छात्रो के पीछे फूलों से लदी हुई शिक्षा-मंत्री की कार इस प्रकार आगे बढ रही थी जैसे स्वयं फूलो की सजी-सजाई क्यारी ही चल रही हो।

पर यह क्या – बाजार के बीच मे अचानक ही शिक्षा-मन्त्री अपनी गाडी से क्यो उतर गये ? लोगो की आँखें उन पर लग गई। सभी चौकन्ने होकर उधर देखने लगे। मन्त्री महोदय का अंग रक्षक हतप्रभ रह गया। शिक्षा-मन्त्री आगे बढे, भीड़ मे लाठी वाले एक अशक्त वृद्ध के उन्होने पाँव छुये और उसे सहारा देकर अपने साथ लाये और कार मे पीछे की ओर बिठा लिया, पास ही वे भी बैठ गये। श्री गोपाल जी पण्डित को अनायास ही मिले इस सम्मान को देख कर लोगो मे विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हुईं। मिश्राजी के हृदय पर साप लोट गया पर वे अपनी भावनाओ को दबाकर बैठे रहे। यद्यपि लोगो ने देखा कि उनके मुख की दीप्ति मे कुछ परिवर्तन अवश्य आ गया था।

नींव का पत्थर रखने के पश्चात् समुचित सहयोग का आश्वासन देते हुए शिक्षा-मन्त्री श्री महेश्वर ने कहा कि महाविद्यालयो की नींव रखने की क्षमता मुझमें नही है। यह तो मात्र एक औपचारिकता है— प्रदर्शन है, आडम्बर है। मेरे पड़ोस मे बैठे पूज्य श्री गोपाल जी पण्डित उन सैकडों लोगो के प्रतीक हैं जो महाविद्यालयों की विशाल अट्टालिकाओ का निर्माण करने के कारण बनते हैं। ये ही उन छात्रों का निर्माण करते हैं जिनके लिये ऐसे विशाल भवनो की आवश्यकता होती है। ऐसे भवनो की नींव रखने के ये ही सच्चे अधिकारी हैं।

मेरे लिये तो पूज्य पण्डित जी ब्रह्मा है क्योकि उन्होंने मुझे पढा-लिखा कर तैयार किया है, विष्णु हैं क्योकि कई बार भोजन देकर इन्होने मेरा पालन किया है और महेश भी है क्योकि उन्होंने मुझे अनेक बार ताडना भी दी है। आज कई वर्षों बाद इनके दर्शन पाकर मेरा हृदय परम प्रसन्न है। मेरा यहाँ आगमन मेरे लिये तीर्थ-यात्रा हो गई है, इसके लिये मैं आप सब का आभार स्वीकार करता हूँ।

जलपान के पश्चात् शिक्षा-मन्त्री जी, श्री गोपालजी पण्डित को उनके घर छोड़ने गये। मिश्रा जी भी साथ थे। शिक्षा-मन्त्री जी के रात्रि-कालीन भोजन की व्यवस्था उनके यहाँ थी। घर के बाहर मोटर की ध्वनि

आने का वृद्धा पण्डिताइन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह भीतर भोजन बनाती रहीं। पण्डित जी के साथ ही मन्त्री जी ने टूटे-फूटे घर में प्रवेश किया।

"अरी देखो तो, आज तो हमारे अतिथि आये हैं।"

"पायँ लागूँ माता जी!"

"कौन है ?"

"महेश।"

"अरे यह काहे का अतिथि, इसका तो घर है, अच्छा बेटा बैठ, भोजन कर ले।"

"मैं तो माताजी अभी जल-पान करके आया हूँ, मेरे पेट में तो स्थान ही नहीं है।"

"आज ही आज तेरे पेट में स्थान नहीं है। तू तो बड़ा पेटू था। कहा करता था कि मेरा तो कभी पेट भरता ही नहीं है"— कहते-कहते थाली में गरम जौ की रोटी और ग्वारफली का साग माताजी ने परोस ही दिया।

माताजी के अधिकार-पूर्ण वात्सल्य को महेश्वर टाल नहीं सके, विना किसी औपचारिकता के वहीं जमीन पर बैठ गये और लगे करने भोजन। माताजी के स्नेह से सिक्त यह भोजन आज उन्हें वर्षों वाद खाने को मिला। शिक्षा-मन्त्री बड़े प्रेम और आनन्द से भोजन कर रहे थे। और पास ही खड़े मिश्रा जी के हृदय में जल रही विरोध की ज्वाला श्रद्धा में परिवर्तित होती जा रही थी।

इस्तीफा

महावीर सिंहल

●

और राकेश का विवाह सरोज से होगया। राकेश कॉलिज में प्रोफेसर है, तरुण है, और सरोज ने मुश्किल से दसवीं कक्षा तक शिक्षा पाई है, वह सुन्दर है, युवा है।

राकेश जब कॉलिज से शाम पांच बजे लौटता तो सरोज दरवाजे पर खड़ी उसकी राह देखती। वह

आगे बढ़कर, मुस्कराकर, उसकी साइकिल पकड़ लेती, राकेश अपने कमरे में आता। वह उसके जूतों के फीते खोलती। उसका कोट उतारती, फिर राकेश कपड़े बदलता, दोनों एक साथ नाश्ता करते। इस प्यार में राकेश अपनी सारी थकान भूल जाता।

सवेरे, राकेश के कॉलेज जाने के पहले, सरोज उसके जूतों पर पालिश करती, गर्म कपड़ों को संवारती और जब वह कॉलेज जाने को होता तब बाहर दरवाजे पर साईकिल ले मुस्कराहट उडेलती हुई खड़ी हो जाती। राकेश चल देता और हँसकर उसके हाथ को अपने हाथ से छू देता, सरोज की नजरें लज्जा से झुक जातीं। राकेश जब तक सरोज की आँखों से ओझल नहीं हो जाता वह उसकी ओर निहारे जाती–अपलक देखे जाती—

राकेश, सरोज को इस भाँति नित्य हँसी बिखेरते देखता–चिन्तारहित, प्रसन्न; फिर वह भी अपनी व्यथा भूल जाता। उसने अब सिगरेट पीना भी छोड़-सा दिया है, आखिर उसे गम है ही किस बात का। सिगरेट तो गरम दिल को ठण्डा करती है। और सरोज का नित्यप्रति का जीवन मानो एक अंग हो गया। बात-बात में मुस्कुराहट उडेलना उसकी अपनी एक धरोहर-सी हो गई।

रविवार को या छुट्टी के दिन, सरोज जल्दी ही खाना बना लेती, दोनों नगर से दूर, जलाशय के निकट, पर्वतमालाओं की बाँहों में जा पहुंचते। वहाँ 'बोटिंग' होती और जब राकेश थक कर चूर–चूर हो जाता तब उस थकान को भुलाने के लिये गीत गुनगुनाती सरोज! किसी वृक्ष की छाँह में बैठकर दोनों वार्तालाप करते, कभी मुस्कराते, कभी नयनों में बातें होतीं। इस भांति सन्ध्या होने के पूर्व ही दोनों लौट आते। सन्ध्या का कार्यक्रम भी कुछ अजीबोगरीब रहता। कभी-कभी तो दोनों सिनेमा जाते या फिर घर लौटकर राकेश सरोज को अपनी लिखी हुई कहानियां सुनाता, कुछ–कुछ आपबीती, कुछ–कुछ जगबीती।

इसी तरह से माह, दिन बनते रहे। धीरे-धीरे फाल्गुन भी उतरने लगा, भास्कर उगता रहा, प्रकृति में परिवर्तन लाता रहा। राकेश को इस खोये हुए समय का भान तनिक भी न हुआ। पर राकेश ने देखा जैसे सरोज

का स्वास्थ्य कुछ इन दिनों गिर गया है। उसके कार्य में कुछ-कुछ सुस्ती आने लगी है, यही देखकर एक दिन उसने सरोज से पूछा, "सुनो, एक नौकरानी रख लें तो कैसा हो, मैं देखता हूं तुम दिनभर काम करते-करते थक जाती हो।"

"पर मैं जो हूँ"— सरोज ने उत्तर दिया।

"तुम, तुम तो मालकिन हो"— राकेश बोला।

"पत्नी अपने पति की दासी ही होती है, उसका स्थान चरणों में होता है।"

सरोज ने एक सांस में कह डाला।

"हृदय में भी तो"—राकेश से जैसे न रहा गया।

"वह पति की देन है – पत्नी का सौभाग्य है", सरोज ने धीरे से कहा और उत्तर की प्रतीक्षा किए बगैर ही वह दूसरे कमरे में चली गई।

इसी तरह बैसाख भी आ गया, गर्मियों की छुट्टियाँ हो गईं, राकेश ने इस बार रानीखेत जाने की सोची थी मगर वह अब नहीं जा पा रहा, आखिर सरोज अस्वस्थ है और अब उसका समय सरोज की देख-भाल करने में, उसे दवा देने और खाने-पीने में परहेज बरतने में, बीतता। जब सरोज चारपाई पर लेटी रहती तब राकेश सिरहाने बैठ कर उसके केश की उलझी लटों से खेला करता, जब सरोज निगाह उठाती तब राकेश अपने ओठों पर सरोज की ही एक मुस्कराहट चुरा लाता। सरोज भी हँस देती। वह जब दूध नहीं पीती तब राकेश नाराज नहीं होता केवल सरोज की आँखों को बाएँ हाथ से बन्द कर दाएँ हाथ का गिलास उसके मुँह से लगा देता और कभी-कभी तो सरोज जब आनाकानी करती तब वह एक हाथ से उसकी ठुड्डी तनिक ऊँची कर हल्की मुस्कराहट सा एक हल्की-सी चपत भी रसीद कर देता, सरोज भी खिल उठती, खीझती नहीं।

एक दिन जब वह सरोज को दवा देकर दरवाजे पर खड़ा ही था कि उसने देखा द्वार पर एक तांगा आकर रुका है, तांगे से एक युवती नीचे

उतरी है। राकेश ने पहचाना— अरे! यह तो सरोज की बड़ी बहिन निरोज है, जोधपुर के एक कॉलेज की प्रोफेसर।

निरोज के आने के बाद भी राकेश सरोज से संबंधित कार्य खुद ही करता, निरोज रोजाना शाम को क्लब जाती, वहाँ से पर्याप्त समय पश्चात् लौटती, आकर भोजन आदि से निवृत हो, सो जाती। दिन में वह कभी 'मारकेटिंग' के लिए निकल पड़ती तो कभी कोई उपन्यास पढ़ती, दोपहर को वह रेडियो सुनना न भूलती।

राकेश इन दिनों सिगरेट भी अधिक पीने लगा है। वह कभी-कभी सोचता निरोज के बारे में! निरोज उसकी सहपाठिनी थी। वह निरोज को कितना चाहता था, मगर जो चला गया उसे क्या सोचना? उसने फिर सरोज से विवाह कर लिया। इसलिए कि सरोज से गठबन्धन कर वह निरोज की याद रख सकेगा! आखिर वह निरोज को भूल भी तो नहीं सकता है! पर सरोज ने तो उसे सब कुछ भुला दिया। सरोज के स्नेह और प्यार ने राकेश को ऐसे टीले पर ला खड़ा किया जहाँ से सरोज के सिवाय उसे और कुछ दिखता ही नहीं। सरोज और उसकी सेवा, उसका त्याग, राकेश में कितना अन्तर हो गया है अब?

निरोज एक दिन कमरे में अपने बाल काढ़ रही थी। तभी राकेश भीतर आया पर फिर उसे शृंगार-रत देख कर वापिस लौट पड़ा। निरोज ने उसे देखा, बोली, "कैसे लौट गए?"

"कुछ नहीं, ऐसे ही" राकेश ने चलता–फिरता सा उत्तर दिया।

"अच्छा बताइये, क्या मेरे बाल सुन्दर नहीं लगते"— निरोज ने यूँ ही पूछ लिया।

राकेश का अन्तस्तल जैसे कह उठा, सुन्दर है–सरोज से भी सुन्दर।

एक हफ्ते बाद सरोज ने एक पुत्र को जन्म दिया। राकेश ने पुलकित हो उसे कई बार चूमा। निरोज ने उसे गोद में लेकर दुआएँ दीं, सरोज ने कभी उसकी ओर, कभी राकेश की ओर, निहारा।

"बालक अपनी माँसी को गया है, वैसा ही सुकुमार, मोटी गोल-गोल आँखें, सुन्दर चेहरा, बिल्कुल ठीक........"

राकेश कहता-कहता हकला गया और निरोज के चेहरे पर लज्जा से अरुणोदय की लाली जैसे गुलाबी दाग झलक आए ।

शिशु सात दिन का हो गया है। सरोज भी स्वस्थ है, लेकिन राकेश का मन कुछ उन्मन हो रहा है इसलिए वह घूमने निकल पड़ता है, तालाब के किनारे पर लहरों की चपलता तो उसके हृदय को और अधिक अधीर कर देती है। वह सोचता है, निरोज ने यहाँ आकर उसकी छोटी-सी बस्ती को छिन्न-भिन्न कर दिया है, पुरानी स्मृति को उभार दिया है। सरोज के साथ रह कर वह भूल गया था कि उसने और निरोज ने एक दूसरे का सम्बल पाने के लिए कभी हाथ बढाये थे, पर आज यह इतने दिनों की बात उसे स्वतः ही याद आने लगी है-जैसे सरोज की समस्त साधना आज स्वतः ही विफल हो गई—वह निरोज को नहीं भूल सका है, वह निरोज को नहीं भूल सकता, कभी नहीं भूल सकता।

राकेश घर लौट आया। रात बढ़ आई। अपने हृदय में कमजोरी का अनुभव करती हुई निरोज, व्यथित हृदय की पीड़ा का मूल्यांकन रात्रि की निस्तब्धता से करना चाह रही थी। सजल नेत्रों से कक्ष के बाहर झरोखे पर खड़ी वह स्मृति जाल में खुल-खुल कर बँध रही थी, तभी पीछे से फुस-फुसाहट हुई - "नीरू"

आवाज राकेश की थी। वह पीछे मुडी। राकेश ने उसके पास आकर पूछा, "एक प्रश्न है नीरू—उस दिन तुम्हारे चेहरे पर रक्त क्यों झलक आया था।"

निरोज चुप रही।

"बताओ तो"— राकेश ने हठ किया।

"मैं क्या कहूँ ? क्या तुम इतना भी नहीं समझते, वह स्वय ही तो उत्तर है।" निरोज ने मुह खोला ।

"पहेली मत बुझाओ नीरू, प्रश्न कभी उत्तर नहीं होता।" राकेश ने कहा।

पर निरोज ने कुछ भी नहीं कहा, आकाश की ओर देखने लगी वह, कहती तो जरूर, पर उससे कुछ कहा नहीं गया । राकेश अपने कक्ष की

ओर लौट आया। झांक कर उसने सरोज के कमरे की तरफ देखा। वह जाग रही थी, राकेश चुपचाप अपने कक्ष की ओर बढ़ गया।

...सरोज भी जानती है, राकेश और निरोज एक दूसरे को चाहते हैं ओर राकेश ने निरोज को पाने के लिए ही उससे विवाह किया था, वह स्वयं-सरोज–तो इन दोनों के मिलन का माध्यम मात्र है, यही कारण था कि वह राकेश को बहुत चाहती है, वह नारी के त्याग में विश्वास रखती है और समझती है कि राकेश निरोज को भूल चुका है। यह परीक्षा करने के लिए ही उसने राकेश से छिपा कर निरोज को पत्र लिख दिया और निरोज यहाँ आ गई, पर आज रात के दूसरे पहर में यह उसने क्या देख लिया? उसके इतने दिन के त्याग को निरोज ने केवल चन्द घन्टों में खण्ड–खण्ड कर दिया, सरोज परीक्षा में असफल रही, राकेश अब भी निरोज को चाहता है?...

सरोज का स्वास्थ्य गिर गया। उसने राकेश और निरोज को बुलाया। निरोज की गोदी में बालक को देकर वह बोली, "दीदी इस अबोध का भार अब तुम सँभालना, इसे मेरी याद मत दिलाना, मैं अब जीवित रहकर ही क्या करूँगी?" निरोज उसके इस व्यवहार पर कुछ कहती कि सरोज ने वाक्य पूरा किया......"मैंने जहर खा लिया है?"

राकेश ने भी यह सुना। दुःख और विषाद से उसके मुंह से केवल इतना ही निकला, सुनो, यह तुमने क्या किया। एक बार मुझ से पूछ तो लेती–शायद रात तुमने मुझे गलत समझा। पर चला हुआ तीर वापस नहीं लौटता। सरोज की ग्रीवा ढीली पड़ गई, चेहरा कुम्हला गया, गोल–गोल मोटे–मोटे नेत्र सदा के लिए बन्द हो गए।

कुछ दिन गुजर गये। एक दिन निरोज ने शिशु को अपने साथ ले जाने के लिए कहा, तब वह बोला, "तुम उससे जाने की कहती हो पर मैं यहां कैसे जी सकूँगा, तुम तो रह सकती हो मगर मैं–मेरा तो अब वही सर्वस्व है" और उसके नेत्र सजल हो गए।

निरोज चुप रही। उसका चेहरा लाल हो गया, आँखें डबडबा आईं। राकेश जब लौटने को मुड़ा तब उसने फिर कहा, "मैं एक धाय रख लूँगा, बस ५.८ क्या?" और फिर वह मुड़ गया।

निरोज से न रहा गया। उसने आगे बढ कर राकेश के दोनो कन्धे पकड़ते हुए कहा, "फिर आप इस धाय बनने के सौभाग्य से मुझे क्यों वंचित करते हैं।" वह आगे कुछ न कह सकी। उसका गला भर आया। उसकी दृष्टि नीचे झुक गई।

राकेश ने उसे चोटी से एडी तक देखा। बोला वह, "पगली, अबोध मत बनो, एक सप्ताह पश्चात् ही कालिज खुल रहे हैं, तुम्हें अपनी नौकरी पर जाना है।" उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही वह वहां से चला गया।

कुछ दिवस पश्चात राकेश ने एक दिन स्वय ही निरोज से कहा, "तुम कल चली जाना निरोज, मैंने शिशु का इन्तजाम कर लिया है।"

निरोज तो इस बात से जैसे चिढ़ ही गई, किसी अज्ञात शक्ति ने उसे ढकेला। बोली, "आखिर आप मुझ से इतना चिढते क्यों हैं।"

"नही, फिर भी"—राकेश ने उत्तर दिया।

"फिर भी," वह हँसी—"सुनो, मैंने इस्तीफा दे दिया है।" राकेश चकराया। बड़ी मुश्किल से बोला, "यह तुमने क्या कर दिया?"

"मुझे सरोज का आपसे ज्यादा ख्याल है न? उसने बालक को अन्तिम समय मेरी गोदी मे दिया था, और फिर ..."

निरोज से आगे नही बोला गया। उसका गला भर आया।

"क्या फिर..." राकेश ने पूछा।

निरोज ने धीरे-धीरे कहा, "फिर आप एक नौकरानी भी रखेंगे न? क्या मुझे वह अवसर प्राप्त नही हो सकता बाबूजी" और वह राकेश के पांवो मे लिपट गई। राकेश ने उसे उठाया, धीरे से बोला, "देवी, वाह! यह कैसा भोलापन है, उठो!"

●

तीन वर्ष व्यतीत हो गये। राकेश को निरोज प्रसन्न रखने का भरसक प्रयत्न करती पर राकेश को स्वय के हृदय का कोई स्थान अब भी रिक्त नजर आता। जैसे वह सरोज को अभी तक नही भूल सका है। राकेश जब कॉलिज से लौटता तब मधु 'पापा-पापा' कह कर उसके पांवो के लिपट जाता। उसकी सारी थकान हर लेता। उसकी मीठी आवाज मे राकेश सरोज की मुस्कुराहट बिखरती हुई देखता और अपनी पिछली बातें जैसे भूल-सा जाता।

एक थी भारमली........?

तेजसिंह तरुण

●

महारानी सौभाग्यवती की आँखों में नींद समा गई। पैर दबाने वाली दासी भारमली धीरे से उठी और दबे पाँव महल की सीढ़ियाँ उतरी। नीचे आने पर खुला चौक था, जिसमें चाँदनी इस प्रकार दिखलाई पड़ रही थी मानो कोई कटोरा दूध से लबालब भरा हो। भारमली अब भी चारों ओर

दृष्टि डाल कर आगे बढ़ रही थी। सदैव की भाँति उसके पैर थोड़ी दूर स्थित मारवाड़ के शासक रणमल के भव्य महल की ओर जा रहे थे। जब वह महल के निकट आ गई, पुनः चारों ओर दृष्टि डालकर महल की सीढ़ियाँ चढ़ गई। उसे हर पल इस बात का भय लग रहा था कि कहीं कोई उसके पैरों की पायल की आहट से जग न जाये। भारमली ने महल की दूसरी मंजिल के उस कमरे मे प्रवेश किया जिस में वह सदैव रणमल से मिलती थी भारमली के पैर की आहट से रणमल जो अभी-अभी शराब में मस्त हो बिस्तर पर लेटा ही था, खड़ा हो लड़खड़ाते स्वर मे बोला—"आज देर क्यों हो गई—भारमली ?"

भारमली चुप रही तो रणमल उसके पास आकर गरजते हुए स्वर मे बोला, "बोलती क्यों नहीं हो ? बोलो-बोलो . कौन रोक लेता है .. तुम्हें ?"

"हजूर, रोकता कोई नहीं, राजमाता आज देर से सोई थी, इस कारण आने में विलम्ब हो गया।"

भारमली इतना कह कर पत्थर की, प्रतिमा की तरह खड़ी हो गई। वह जानती थी कि रणमल शराब मे पशु की तरह हो जाता था, कई बार वह उसकी ठोकरें व अनेक प्रकार की यातनायें सह चुकी थी।

रणमल लड़खड़ाते हुए भारमली के पास आकर उसके चेहरे को हाथ से उठाते हुए बोला- "भारमली! अब.. तू.. किसी की नौकर नहीं रहेगी बल्कि जो. चित्तौड़ मे रहना चाहेंगे . वे तेरे नौकर बनकर रहेंगे।"

भारमली को यह अच्छा नहीं लगा, रणमल के मुँह से अपना मुँह दुर्गन्ध के कारण दूर हटा कर बोली—"नहीं हजूर। मुझे दासी के रूप मे ही इस मेवाड़ की सेवा करने मे आनन्द आता है।"

भारमली का वाक्य समाप्त भी नहीं हुआ था कि रणमल भारमली की कमर मे हाथ डालकर उसे अपने पलग पर जोर से पटक उसके बालों को सहलाते हुए बोला—"नहीं भारमली। तू मेरी पटरानी होगी और मैं .... ।"

"हजूर, यह भारमली दासी रहकर भी उतना ही प्यार देगी।"

"नहीं भारमली...मैं मैं . मेवाड़ का . ।" वाक्य पूरा नहीं हुआ इसी बीच भारमली धीमे स्वर मे रणमल की आँखों मे आँखें डाल कर बोली— "हजूर, यह दासी इसी रूप मे आपका प्यार पाना चाहती है।"

"नहीं- नहीं, वह अच्छा नहीं है, जिसका अन्न और नमक खाता है, उसे धोखे में रखना ठीक नहीं है।" कुछ चलता रहा, भारमली चुप थी जैसे कि वह सजीव न होकर निर्जीव पत्थर की प्रतिमा हो। महारानी भी उसकी इस दशा को देखकर आश्चर्य में डूब गई। महारानी गम्भीर हो गई और पुनः पूछा—"क्या बात है भारमली! बोलती क्यों नहीं?" भारमली अब भी नहीं बोल सकी। बोलने को अधर खुले भी नहीं, परन्तु पुनः बन्द हो गये। राजमाता अपने स्थान से उठी और भारमली के पास आकर बोली- "कहो भारमली, क्या बात है?"

भारमली इस बार बोल उठी-"राणा के विरुद्ध षड्यंत्र चल रहा है राजमाता जी, रणमल ।" भारमली आगे नहीं बोल सकी और बेहोश हो कर धरती पर गिर पड़ी। तुरन्त राजमाता ने उसे उठाया और उसके बालों में अपना हाथ डालते हुए बोली-"भारमली ठीक कहती हो, मुझे भी राठौरों की ओर से कुछ अशुभ दिखाई दे रहा है। मैं महाराणा कुंभा को आज ही कहलवा दूँगी।"

\+ \+ \+

रात्रि के ग्यारह बज चुके थे। सेवक एक्का महाराणा के महलों से भारमली के मकान की तरफ बढ़ गया। उसके पैरों में तेजी थी। वह एक दम सीधा मकान में प्रवेश कर गया। भारमली अभी सोई नहीं थी। एक्का को अपने मकान में अचानक देखकर चौंक उठी और तुरन्त सम्हलती हुए बोली—"आज इस रात को यहाँ कैसे?"

"क्षमा करना भारमली, मैं जोश ही जोश में यह भूल गया कि एक औरत के मकान में आ रहा हूँ, बहुत जरूरी काम है।" एक्का इस वक्त बहुत अधिक हाँफ रहा था।

"वह क्या?"

"भारमली, मुझे विश्वास दो कि तुम राणा जी की हर बात मानोगी।"

"बोलो न, राणा जी के लिये मेरे पास मनाई है ही नहीं।"

"पूरा विश्वास। अब भी सोच लो।"

"बोलो न, मैं कुछ भी नहीं समझ पा रही हूँ कि इस वक्त मेरे योग्य

कौन-सा काम है जिसे राणा जी नहीं कर सकते और मैं उसके योग्य हूँ।"

एक्का अभी भी हाँफते हुए बोला—"भारमली, आज मेवाड़ की रक्षा तुम्हारे हाथों में है।" एक्का इतना कह कर शान्त भाव से खड़ा हो गया। भारमली सब कुछ समझ गई। अब उसके मन में और गहरा अन्तर्द्वन्द्व उठ गया। एक ओर देश और उसका शासक था तो दूसरी ओर प्रेमी था, उसे संकटों के बादलों ने घेर लिया। वह चुपचाप चिन्ता के तेज प्रवाह में बह रही थी। उसके हर निर्णय के आगे प्रश्नवाचक चिह्न था कि वह क्या करे? एक ओर प्रेमी की मौत थी दूसरी ओर स्वामी पर संकट। भारमली निरन्तर सोचती रही। उसे कोई हल ध्यान में नहीं आ रहा था। जवाब दे तो क्या दे? भारमली से कुछ भी नहीं बोला गया। एक्का निरन्तर भारमली के चेहरे की ओर उत्तर की प्रतीक्षा में खड़ा था। जब भारमली कुछ नहीं बोली तो एक्का ने कहा—"भारमली, तुमने मेवाड़ में जन्म लिया है, यहाँ का अन्न और नमक खाकर बड़ी हुई हो, क्या तुम अपने ईश्वर-तुल्य पालक राणा की रक्षार्थ और मेवाड़ को दूसरे के हाथों में जाने से रोकने के लिये इतना भी नहीं कर सकती? मैं जानता हूँ कि तुम्हारा प्यार बीच में दीवार बनकर खड़ा है, परन्तु क्या वह प्यार देश व राणा के प्यार से बढ़कर है?"

भारमली की आँखों के सम्मुख अन्धेरा छा गया। वह जबान उठाना चाहती हुई भी नहीं उठा पा रही थी, किन्तु कुछ समय के मौन को भंग कर बोल ही गई—"एक्का जी, तुम ठीक कहते हो, मैं मेवाड़ को बचा लूँगी।"

"शाबास भारमली, तुम जितना सहयोग चाहो ले लेना, मैं चलता हूं।"

एक्का भारमली के मकान के आंगन से बाहर हो गया। भारमली अब भी ज्यों की त्यों खड़ी-खड़ी कुछ देर विचारों में खोई रही। फिर कमरे में आई। अपनी खिड़की से अरावली की गिरि-शृंखलाओं व महाराणा के ऊंचे महलों को चाँदनी रात में देख कर उसके मन में मेवाड़ के प्रति प्यार उमड़ आया और रणमल के प्रति घृणा का ज्वार उठने लगा।

+ + +

सारा आसमान अन्धकार की काली चादर में लिपटा था। महल की एक दीवार से दूसरी दीवार नहीं दिखाई दे रही थी। सदैव की तरह भारमली राजमाता के महल से रणमल के महल की ओर चली।

चेहरे पर क्रोध के भाव अंकित थे, पैरों में तेजी थी, सूरत पर देवी चण्डिका के से हाव-भाव प्रस्फुटित हो रहे थे।

धीरे-धीरे उसके कदम सीढ़ियां चढ़ने लगे। रणमल व्याकुल बन कर भारमली की प्रतीक्षा कर रहा था। पलंग पर सोया-सोया वह कुछ विचार-मग्न था कि इसी समय भारमली ने प्रवेश किया। भारमली के प्रवेश करते ही उछल कर उसे अपने बाहु-पाश में जकड़ लिया। भारमली बनावटी प्रसन्नता का नाटक करती हुई बोली–"हुजूर किन स्वप्नों में खोये थे?"

भारमली की कमर में दोनों हाथ डालकर अपने शरीर से लगाते हुए रणमल बोला–"तुम्हारे ही, भारमली। मुझे अगर जिन्दगी में किसी ने पागल बनाया तो तूने।"

भारमली स्त्री-सुलभ लज्जा प्रकट करती हुई बोली– "सरकार कहीं झूठ तो नहीं बोलते ?"

"नहीं भारमली।"

"तो फिर मुझे पिलायेंगे और पीयेंगे ?"

"क्यों नहीं भारमली, तू कहे तो मदिरा के सरोवर भरवा दूँ।"

"आज देखती हूँ, देखें हुजूर कितना पीते हैं आज।"

"जितना हो उतना पिलाओ भारमली।"

भारमली पास में पड़ी बोतल से प्याला भर रणमल की ओर बढ़ाती हुई बोली–"तो फिर यह दासी हुजूर के हुक्म के लिये तैयार है।"

रणमल प्याले पर प्याले चढ़ाता गया और इतना पी गया कि वह अपना होश भूल गया। भारमली ने इस अवसर को नहीं जाने दिया, उसने तुरन्त खाट पर बेसुध सोये रणमल को बाँधने के लिये उसी के साफे को उठाया।

मगर दूसरे ही क्षण उसका ध्यान रणमल के उस मौन चेहरे पर जा लगा जिसको अब तक उसने सदैव चूमा था। उसके हाथ से साफा गिर गया। पुनः प्रेम-सम्बन्ध उभरने लगे कि इसी बीच राणा व राजमाता का स्नेह और ममत्व याद आ गया। एक्का के वचन मस्तिष्क में घूमने लगे। पुनः रणमल के प्रति घृणा जाग उठी और तुरन्त साफे को लम्बा कर सोये हुए रणमल को खाट से लपेट कर बाँध दिया।

प्रस्थिति

[राजस्थान के सृजन-शील शिक्षकों का कहानी संग्रह]
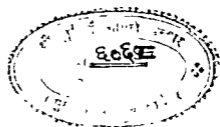
सम्पादक

ज्ञान भारिल्ल : प्रेम सक्सेना

प्रस्थिति

[राजस्थान के सृजन-शील शिक्षकों का कहानी संग्रह]

सम्पादक

ज्ञान भारिल्ल : प्रेम सक्सेना

शिक्षा विभाग राजस्थान
के लिए

चिन्मय प्रकाशन

चौड़ा रास्ता,

जयपुर-३

वितरक :-

● मूल्य ४.००

● प्रकाशक
चिन्मय प्रकाशन
चौड़ा रास्ता,
जयपुर-३
द्वारा
शिक्षा-विभाग राजस्थान
के लिये प्रकाशित

● प्रथम संस्करण
सितम्बर, १९६७

● मुद्रक
दी यूनाइटेड प्रिण्टर्स
राधा दामोदर की गली
चौड़ा रास्ता,
जयपुर-३

आमुख

राजस्थान के सृजनशील शिक्षकों की उत्तम कृतियो के प्रकाशन के लिए शिक्षक-दिवस से अधिक उपयुक्त और कौन-सा अवसर हो सकता है? सभी विचारशील व्यक्ति सम्भवतः इस कदम का स्वागत करेंगे।

शिक्षा विभाग राजस्थान ने उत्तम श्रेणी के शिक्षको की श्रेष्ठ कृतियो के प्रकाशन मे योग देने का निश्चय किया है। इसके अन्तर्गत इस प्रकार के प्रकाशन राजस्थान के अच्छे प्रकाशको को प्रकाशन के लिये सौंपे जावेंगे। मुझे यह कहते हुए बडी प्रसन्नता है कि प्रकाशक इस कार्य मे तत्परता से योगदान दे रहे हैं। इस वर्ष समय बहुत कम था परन्तु इतने कम समय मे पुस्तक के प्रकाशन मे विशेष लगन से कार्य कर प्रकाशक ने पुस्तक का समय पर प्रकाशन संभव बनाया। वे धन्यवाद के पात्र हैं।

मुझे आशा है कि इस प्रकाशन तथा शिक्षको द्वारा लिखित ग्रन्थो के प्रकाशन में सहयोग देने की नीति से शिक्षको मे लिखने के प्रति उत्साह सचारित होगा। अन्य शिक्षक, छात्र तथा सभी विचारशील व्यक्ति इन पुस्तकों को पढेंगे तथा इससे आनन्द उठावेंगे, ऐसी मेरी कामना है।

शिक्षक दिवस १९६७

अनिल बोर्दिया
अपर निदेशक
प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा
राजस्थान

अनुक्रम

ख़ाली

रमेशकुमार 'शील'

●

सूरज जब काफी ऊपर चढ़ आया और चारों ओर गरमी की तेज धूप बिखर गई, तब वह अलसाता, उबासियां लेता उठा। आस-पास, पड़ोस में प्रायः सभी लोग जग चुके थे। उसने एक बार हल्के-से सोचा, इतनी देर तक सोते हुए अगर किसी ने उसे देखा होगा तो उसके बारे में क्या सोचता होगा—

कितना निकम्मा और आलसी आदमी है--लेकिन फौरन ही उसे सिगरेट की तलब महसूस होने लगी और उसने बिस्तर के पास आले से हाथ बढ़ा सिगरेट का पैकेट उठाकर एक सिगरेट सुलगा ली। जैसे ही उसने उसका पहला कश खींचा, वह किसी के देखने की बात भूल गया—और वह फिर नशेबाज़ की तरह, दीवार के पीछे सिर टिका कर एक के बाद एक कश जल्दी-जल्दी खींचने लगा। सामने, खुले दरवाजे से—बाहर धूप में चमकता नीला, असीम आकाश का एक हिस्सा और तेज हवा में झरझराता मैदान का नीम का पेड़ दिखाई दे रहा था—वह उल्लू की तरह उन्हें घूरता हुआ सिगरेट के कश खींच रहा था। अगर कोई भी उसे उस समय आकर देखता तो उसकी गम्भीर, भारी आकृति और टकटकाती बाहर की दृष्टि से यही समझता कि वह इस समय किसी बहुत गम्भीर ख्याल में मुब्तिला है, या प्रकृति-अवलोकन करके आकाश और पेड़ का सौंदर्य, सार अनुभव कर रहा है—लेकिन बात दरअसल यह थी कि वह उस वक्त न तो कुछ सोच रहा था और न आकाश, टुकड़े, पेड़, हवा, धूप, किसी को अनुभव ही कर रहा था। एक सैकिन्ड के लिए, उसने यह जरूर सोचा कि इस वक्त उसका दिमाग-दिल बिल्कुल खाली है, उसमें कुछ भी नहीं है—लेकिन दूसरे ही क्षण सामने दरवाजे से पत्नी को चाय लाता देखकर वह एक दम इतनी फुर्ती से चाय लेने के लिए उठकर बैठ गया जैसे घन्टों से उसी का इन्तजार कर रहा था। पत्नी के हाथ से चाय का प्याला लेकर वह जल्दी-जल्दी उससे सिप लेने लगा—पहला सिप उसने इतनी ज़ोर से लिया और उसकी आवाज़ इतनी ज़ोर से चारों ओर गूंजी कि वह अपनी इस बनावटी व्यग्रता के भोंडेपन से खुद शर्मिंदा-सा हो गया— यह सोच कर कि कहीं पत्नी उसकी बनावटी उत्सुकता को भांप न गई हो वह बड़ा स्वाभाविक होकर (जैसे उसे चाय पीने की बहुत तलब महसूस हो रही हो) मज़े ले-लेकर सिप लेने लगा। इस अभिनय और तैयारी में उसकी कनपटियों की नसें थोड़ी देर के लिए तन सी गईं, और वह यह सोचने लगा कि इस ज़रा-सी मानसिक [illegible] का उसके दिमाग पर इतना बोझ-सा कैसे आ पड़ा। सिप लेते-लेते उसने पत्नी के चेहरे की ओर देखा। सब दिनों की तरह जैसा ही उसका चेहरा [illegible] और गम्भीर था और वह उस ख्याल से हटकर फिर अपने आन्तरिक [illegible] के बारे में सोचने लगा। लेकिन वह कुछ सोच नहीं सका सिवा

इसके कि वह एक क्षण को यह महसूस करने लगा है जैसे वह किसी तेज आंधी की चपेट में आ गया है, और उसकी कनपटियों में उसकी सायें-सायें के सिवा कोई दूसरी आवाज़ नहीं है।

बड़ी गैर दिलचस्पी से चाय पीकर उसने प्याला नीचे रख दिया—पत्नी जा चुकी थी। उसने एक लम्बी सांस खींची—जैसे कोई संकट का क्षण सही सलामत टल गया हो, और फिर उसने दूसरी सिगरेट सुलगा ली। दरअसल उसे अपनी मनःस्थिति के भावों के लिये किसी भी व्यक्ति का चुपचाप परोक्ष, अपरोक्ष साक्षी हो जाना बड़ी घबराहट में डाल देता था—और वह निहायत संजीदगी से उस क्षण के सत्य को झुठलाने की पूरी कोशिश करने लगता था—असलन वह अकेले में सिगरेट पीते हुए चुपचाप खड़े हुए किसी तरफ देखते हुए भी अगर किसी आदमी की दृष्टि को अपने ऊपर पड़ते पाता था तो बिना किसी बात के भी वह खुद को बड़ा अपराधी-सा अनुभव करने लगता था। कभी कभी वह सोचता था—आदमी को एकान्त मिलना ही नहीं चाहिये। एक खुले दिल-दिमाग वाले आदमी को अकेलेपन से हमेशा कतरा जाना चाहिये, क्योंकि एकान्त, अकेलेपन का मतलब है—पेचीदा-रहस्यमय प्रतिक्रियायें जो भले ही किसी दूसरे के प्रति न हो लेकिन अपने प्रति तो होती ही है। लेकिन वह हमेशा अकेला रहता है, एकान्तमय, इसलिये वह कभी भी किसी की उपस्थिति या हस्तक्षेप से चोर की तरह घबराने लगता है।

आधी सिगरेट पी चुकने के बाद उसे शौच की जरूरत अनुभव होने लगी—वह उठकर पाखाने में घुस गया—करीब पांच मिनट बाद ही वह वहां से निकल आया। मुंह हाथ धोते-धोते उसने सोचा अब वह अगला काम क्या करेगा?

छुट्टियां हमेशा उसके लिये एक गम्भीर समस्या का कारण बन जाती हैं। सब कुछ करते-धरते के बाद भी लम्बा रेगिस्तान-सा उजाड़ दिन उसको सफर करने के लिये पड़ा रहता है—छोटा-सा, दस हजार की आबादी वाला कस्बा—लोग सुबह होते ही अपने अपने काम-धन्धों में व्यस्त हो जाते हैं, एक छोटे से दुकाननुमा [illegible] रेस्त्रां के अलावा न कोई बैठने की जगह है और न वक्त गुजारने का चाय के सिवा साधन। उसने मुंह पर हाथ फेरा, दाढ़ी काफी बढ़ गई थी—उसने सोचा पहले यही बना ली जाय। सोचकर

देश-भक्त बालक

रमेश शर्मा

अतुल अभी सोया नहीं था कि उसने अपने पिताजी को बैठक के पास से गुजरते हुए उस प्रकार दो आदमियों को फुसफुसाकर धीरे-धीरे बातें करते हुए सुना। इससे पहले भी अतुल कई बार काफी रात गए पास वाले कमरे में सोते से जागने पर इसी प्रकार की फुसफुसाहट भरी बातें सुन चुका था।

वह इस भेद को जानना चाहता था कि आखिर यह कौन और कैसा आदमी है जो इतनी रात गए आता है और कई घंटे उसके पिताजी से धीरे-धीरे बातें करने के बाद अंधेरे में ही कहीं वापस लौट जाता है। परन्तु अतुल एक प्रमुख फौजी कार्यालय में एक बड़े अधिकारी के पद पर काम करने वाले अपने पिताजी के स्वभाव को अच्छी तरह जानता था, क्योंकि वे अपनी ही किसी धुन में रहते थे और घर में भी किसी से अधिक बातचीत नहीं करते थे।

...........आज फिर जब उसने उन दोनों को फुसफुसाकर बातें करते सुना तो उसने अपने छोटे-से मन में यह बड़ा सा निश्चय कर लिया कि आज मैं अवश्य यह देखूँगा कि यह कौन है जो इस प्रकार मेरे पिताजी के पास आता-जाता है।

अतुल को काफी देर तक जाग कर प्रतीक्षा करनी पड़ी। एकाएक उसने घुप्प अंधेरे में फटे-पुराने कपड़े पहने एक पागल से लगने वाले आदमी को बैठक से चुपचाप निकलते हुए देखा, जो अपने को अंधेरे में छिपाता-सा एक ओर चल पड़ा। अतुल से न रहा गया। वह धीरे से उठा, हाफ-पैन्ट, कमीज पहिनी, पैरों में जूते डाले और धीरे से अपने कमरे से बाहर आ गया। खामोशी और रात का घना अंधेरा, उसके मन में भय उत्पन्न कर रहा था, परन्तु दूसरे ही क्षण उसने अपने मन को मजबूत बना लिया।

वह पागल-सा दिखलाई देने वाला आदमी छोटी गलियों और रास्तों से होता हुआ शहर से बाहर आकर अब तेजी और लापरवाही से आगे बढ़ रहा था। अतुल उस आदमी से कुछ दूर पीछे छिपता-छिपता उसके पीछे चला जा रहा था। कभी-कभी वह आदमी चौंक कर इधर-उधर देख लेता और कोई गड़बड़ न देख कर फिर चलने लगता। अब वह आदमी उतना चौकन्ना होकर नहीं चल रहा था इसलिए अतुल को भी पीछा करने में आसानी हो गई थी। कई बार अतुल के मन में आया कि उसे लौट चलना चाहिए, अगर इस आदमी ने उसे देख लिया तो वह उसके पिता से उसकी शिकायत करके उसके लिए अच्छी खासी मुसीबत खड़ी कर देगा। फिर मन कह उठता, "नहीं, आज यह देखना ही चाहिए कि यह आदमी कहाँ से आता है, कहाँ जाता है और आखिर इतना छिपने-छिपाने का क्या कारण है, और

इस प्रकार के पागल जैसे दिखने वाले आदमी से उसके पिताजी की दोस्ती का रहस्य क्या है ?

सहसा दो दिन पहले स्कूल में अपने मास्टर साहब से सुनी एक कहानी उसे याद हो आई कि किस प्रकार युद्ध के दिनों में कुछ देश-द्रोही लोग दुश्मनों के लिये जासूसी के काम में मदद देकर थोड़े से धन के लोभ में देश के साथ गद्दारी करते हैं। अतुल के मन में एक आशंका उत्पन्न हो गई थी कि कहीं उसके पिताजी का भी किसी ऐसे ही गिरोह से तो सम्बन्ध नहीं है। इन्हीं विचारों में खोया हुआ अतुल उस आदमी का पीछा करते हुए शहर से लगभग दो मील दूर जंगल में पहाड़ी की तलहटी में टूटे-फूटे खण्डहर जैसे उस मकान के पास पहुँच चुका था जिसके बारे में उसने लोगों के मुँह से सुन रखा था कि उसमें भूत-प्रेत रहते हैं। दूसरे ही क्षण उसने देखा कि वह आदमी जो तब तक उस मकान के दरवाजे के बिल्कुल पास पहुँच चुका था, इधर-उधर देख लेने के बाद उस मकान के अन्दर घुस गया और दरवाजा तुरन्त बन्द हो गया। अतुल कुछ देर तो एक झाड़ी की ओट में खड़ा-खड़ा सोचता रहा, फिर वह भी धीरे-धीरे उस मकान की तरफ बढ़ा। पास में ही झाड़ियों के झुरमुट में खड़ी एक काले रंग की बड़ी-सी मोटर ने उसे और भी आश्चर्य में डाल दिया। वह मकान की बगल वाली खिड़की के पास पहुँच कर उसमें कोई ऐसा छोटा-मोटा छेद तलाश करने लगा जिसमें से वह देख सके कि अन्दर क्या है। उस खिड़की के एक कोने में एक बहुत छोटे से छेद में से उसे हल्के प्रकाश की एक झलक-सी दिखाई दी। उसने और अधिक सावधानी से अपनी एक आँख उस छेद पर टिका कर अन्दर झाँका, उसने देखा कि चौक में मूढ़ों पर पास-पास पाँच-छः आदमी बैठे मुस्करा कर धीरे-धीरे कुछ बात करने के साथ-साथ उस आदमी के द्वारा लाए गए कुछ कागजों को बड़े ही ध्यान से देख रहे हैं। अतुल यह सब देखने में इतना खो गया कि उसे यह भी ध्यान नहीं रहा कि "मैं इस समय कहाँ हूँ"......तभी एक मजबूत हाथ ने पीछे से आकर उसकी कलाई पकड़ ली और गुस्से में भर कर जोर से उमेठ दी। अतुल दर्द से कराह उठा। वह आदमी अतुल को घसीटता हुआ दरवाजे में से होकर अन्दर ले गया जहाँ दूसरे लोग बैठे बातें कर रहे थे। बीच वाले मूढ़े पर बैठा एक ठिगना सा आदमी अतुल को बड़ा

डरावना लगा, उस की आँखें लाल हो रही थीं। उसके खाकी कोट पर कई फौजी बिल्ले लटक रहे थे। वह कोई बड़ा फौजी अफसर मालूम देता था। एक कोने में लकड़ी के तख्ते पर रेडियो जैसी दो मशीनें रखी थीं जिन में से कई मोटे – पतले तार निकल कर इधर-उधर बिखरे हुए थे। यह सब देख कर अतुल का मन एक बार काँप गया.........। उसे पकड़ कर लाने वाला आदमी उस अफसर को फौजी सलामी देकर बोला.........'सर.........यह लड़का मकान की खिड़की में से अन्दर झाँक रहा था।' अफसर ने अतुल को खा जाने वाली निगाहों से देखा और गुर्राई आवाज में पूछा, "कौन हो तुम ?"

"अतुल"—अतुल ने थोड़ी दृढ़ता से उत्तर दिया।

"मैं तुम्हारा नाम नहीं पूछ रहा हूँ, तुम्हें यहाँ इतनी रात गये किसने भेजा है ? ठीक-ठीक बताओ वरना तुम्हें गोली मार दी जायगी।" यह कहने के साथ ही वह अफसर अतुल का हाथ पकड़ कर अन्दर वाली कोठरी में ले गया और थोड़ी नरमी दिखाते हुए बोला, "देखो लड़के, तुम ठीक-ठीक बता दो कि तुम यहाँ कैसे आए ? क्या किसी ने तुम्हें यहाँ भेजा है ? मुझे सब सच-सच बता दो, मैं तुम्हें तुम्हारे घर भिजवा दूँगा।"

अतुल ने लापरवाही से कहा, "मुझे यहाँ किसी ने नहीं भेजा है। मैं खुद यहाँ आया हूँ। मैंने तुम लोगों के बारे में सब कुछ जान लिया है। तुम सब देश के दुश्मन हो। अब तो तुम अपनी जान की खैर मनाओ।"

"खामोश"—अफसर चीखा, हम तुम्हारे शरीर को पिस्तौल की गोलियों से भूनकर रख देंगे और किसी को पता तक न चलेगा कि तुम्हारा क्या हुआ !

अभी अफसर पूरी बात कहने भी न पाया था कि पास ही रेडियो जैसी कुछ आवाज सुनाई दी और वह तेजी से कोठरी से बाहर निकल गया— जल्दी में वह कोठरी का दरवाज़ा बन्द करना भी भूल गया। उसके बाहर जाते ही अतुल ने भाग जाने के इरादे से इधर-उधर निगाह दौड़ाई। दरवाजे से भागने पर तो उसे उन्हीं लोगों के सामने होकर भागना पड़ता और इस प्रकार उसे फिर पकड़े जाने का भय था। उसे तुरन्त एक तरकीब सूझी। फुर्ती से उसने कोठरी के कोने में पड़ा स्टूल उठाया, खिड़की के नीचे दीवार

के पास रख कर उस पर चढ़ा और खिड़की में से बाहर कूद पड़ा। अब अतुल जंगल की झाड़ियों की आड़ लेकर बेतहाशा शहर की ओर जाने वाले ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर दौड़ रहा था·· ·· ··· ··········वह भागता ही गया, उसकी साँस फूलने लगी परन्तु उसने साहस न छोड़ा। काफी दूर निकल जाने पर वह सड़क पर आ गया। शहर अभी भी लगभग दो फर्लांग दूर था। अतुल पूरा दम लगाकर दौड़ा जा रहा था। वह जल्दी ही शहर से बाहर वाले चुंगी नाके पर पहुँच कर ही दम लेना चाहता था।

चुंगी नाके पर पहुँच कर वहाँ के कर्मचारी से अतुल ने पूछा, "यहाँ टेलीफोन है?"

वह आदमी अतुल को घबराया हुआ देखकर बिना कुछ पूछे, टेलीफोन तक ले गया--अतुल ने उसी से पूछकर तुरन्त पुलिस कोतवाली का नम्बर मिलाया।

"हैलो! कोतवाली।" --उधर से आवाज़ आई।

"देखिए! मैं शहर से बाहर पश्चिम की ओर जाने वाली सड़क के चुंगी नाके से बोल रहा हूँ। बहुत जल्दी पुलिस लेकर आप यहाँ आ जाइये। मैंने विदेशी जासूसों के एक खतरनाक गिरोह के अड्डे का पता लगाया है। मैं उन्हीं के पंजे से छुटकारा पाकर यहाँ तक पहुँचा हूँ।" अतुल ने यह सब एक साँस में कह डाला।

"तुम्हारा नाम?"

"मेरा नाम अतुल है।"

"गिरोह में कितने आदमी होंगे?"

"पाँच--छः।"

"अच्छा·· ····· ·· · ठीक है, हम अभी पाँच मिनट में चुंगी नाके पर पहुँच रहे हैं, तुम वहीं ठहर कर हमारा इन्तजार करो।"

टेलीफोन रख दिया गया। चुंगी वाले उस आदमी ने जब अतुल की ये बातें सुनी तो वह तेरह- चौदह वर्ष के इस छोटे-से लड़के की बुद्धिमानी और साहस देखकर चकित रह गया। उसने अतुल को आराम में बैठने को एक कुर्सी दे दी।

थोड़ी देर में ही पुलिस इन्स्पैक्टर लगभग पन्द्रह राइफलधारी सिपाहियों को लेकर पुलिस की मोटर में चुंगी नाके पर पहुँच गये।

गाड़ी के रुकते ही अतुल लपक कर इन्स्पैक्टर की बगल में बैठता हुआ बोला, "मेरा नाम अतुल है: आप फौरन गाड़ी 'स्टार्ट' कराएँ, मैं आपको रास्ता बताऊँगा। पुलिस की गाड़ी तेजी से सड़क पर दौड़ने लगी। इस बीच इन्स्पैक्टर ने अतुल से उन लोगों के और उस स्थान के बारे में कई बातें पूछीं।

अब अतुल ने सड़क छोड़ कर बाईं ओर जंगल में जाने वाले कच्चे रास्ते पर मोटर मोड़ने ले लिए कहा – कुछ दूर उस रास्ते पर चलकर मोटर एक ओर घनी झाड़ियों की आड़ में खड़ी कर दी गई और अतुल के पीछे सब लोग सावधानी से आगे बढ़ने लगे। वह टूटा-फूटा मकान पास आ चुका था। इन्स्पैक्टर ने सिपाहियों को कुछ आदेश दिए। उसके बाद सिपाहियों ने इधर-उधर से चलकर उस मकान को घेर लिया। इन्स्पैक्टर ने खिड़की के पास आकर कुछ पता लगाना चाहा, तभी खिड़की के पास कान लगाते ही इन्स्पैक्टर ने भीतर से एक रौबदार परन्तु घबराहट भरी आवाज सुनी।

कोई कह रहा था, "हमें फौरन यह जगह छोड़ देनी चाहिए……जल्दी से सब सामान इकट्ठा करो।"

"रामचन्द्र…फौरन गाड़ी दरवाजे पर लगाओ।" इन्स्पैक्टर सावधानी से दरवाजे के पास पहुंचा।

ड्राइवर रामचन्द्र ने जैसे ही बाहर निकलने के लिए दरवाजा खोला कि इन्स्पैक्टर सामने रिवाल्वर ताने पहुँच गया और कड़कती आवाज में बोला,

"खबरदार कोई अपनी जगह से न हिले—मकान चारों ओर से पुलिस ने घेर लिया है। अच्छा होगा कि सब अपने आप को पुलिस को सौंप दें।" यह आदेश देते ही इन्सपैक्टर दो सिपाहियों को साथ लेकर आगे बढ़ा तब तक उस ड्राइवर को एक सिपाही ने हथकड़ियाँ पहना दी थीं। गिरोह के सभी लोगों ने आत्मसमर्पण के अतिरिक्त बचाव का कोई दूसरा रास्ता न देख अपने हाथ ऊपर उठा दिए थे। इन्स्पैक्टर ने देखा कि उस रोबीले आदमी ने

जो गिरोह का सरदार लगता था, अपना एक हाथ जेब की तरफ बढाया परन्तु इन्स्पैक्टर के पिस्तौल की एक ही गोली ने उसका हाथ बेकार कर दिया। गिरोह के सभी आदमी गिरफ्तार कर लिए गए। यह सब इतनी जल्दी हुआ कि न तो गिरोह वाले अपने हथियारों की मदद ही ले सके और न कोई बच कर भाग ही सका। सब को कब्जे में कर लेने के बाद इन्स्पैक्टर अतुल को शाबाशी देने के लिए मुड़ा ही था कि अतुल बोल उठा—"इन्स्पैक्टर साहब, अभी शहर में एक आदमी और है जिसका इस गिरोह से गहरा सम्बन्ध है।"

"वह कौन है—क्या तुम उसका पता ठिकाना जानते हो ?"—इन्स्पैक्टर ने पूछा।

"जी हाँ.........वे हैं मेरे अपने पिता"- अतुल की गर्दन झुक गई थी।

सभी लोग आश्चर्य से मुँह बाए अतुल की ओर देखने लगे, यहाँ तक कि गिरफ्तार हुए वे जासूस भी।

इन्स्पैक्टर ने आगे बढ़ कर अतुल की पीठ थपथपाई —शाबाश ! अतुल बेटे तुम धन्य हो; देश को तुम्हारे जैसे होनहार बालकों की जरूरत है। जिस देश में तुम्हारे जैसे बालक हों, उसकी आजादी पर कभी कोई आँच नहीं आ सकती। अगर तुम ने इतनी बुद्धिमानी और साहस से काम न लिया होता तो पता नहीं दुश्मन की जासूसी का यह अड्डा कब तक लोगों की निगाहों से बचा रहता !

सभी बन्दियों को कोतवाली लाया गया। रात के दो बज चुके थे। उसी समय अतुल के बताए पते पर उसके घर जाकर उसके पिता को भी पकड़ मँगाया गया। अतुल के सामने उसके पिता की आँखें शर्म से उठ नहीं पा रही थीं। अतुल की आँखों से आँसू बह कर फर्श को गीला कर रहे थे और इन्स्पैक्टर प्यार भरे शब्दों से उसे तसल्ली दे रहा था। आवश्यक कार्यवाही कर चुकने के पश्चात् इन्स्पेक्टर अपने साथ अतुल को लेकर उसके घर तक पहुँचाने गया। माँ के सामने जाते हुए अतुल डर रहा था। घर पहुँचने पर अतुल ने देखा कि उसकी माँ दरवाजे पर खडी अतुल की राह देख रही है। अतुल जीप से कूद कर माँ के पैरों से लिपट गया। माँ ने बड़े प्यार से अतुल को उठा कर चूम लिया मानो माँ ने बेटे के अपने देश-द्रोही पिता को गिरफ्तार कराने के अपराध को क्षमा कर दिया हो।

कुछ दिनों बाद ही शहर में एक बड़ी सभा का आयोजन किया गया। उस अवसर पर विशाल जन-समूह के सामने सरकार के एक मंत्री महोदय ने अतुल को मंच पर खड़ा कर शहर की जनता को उसका परिचय दिया। अपने हाथों उसके गले में फूलों का हार पहना कर उसके उस साहसपूर्ण कार्य की प्रशंसा की और सरकार की ओर से उसकी सम्पूर्ण शिक्षा का मुफ्त प्रबन्ध करने की घोषणा के साथ-साथ जीवन पर्यन्त प्रति माह एक रकम वजीफे के रूप में देने की भी घोषणा की गई जिसकी सहायता से वह और उसकी माँ आराम से जीवन बिता सकें।

धर्म शिक्षक

आचार्य चन्द्रमौलि

●

अपहरण ! अपहरण !! अपहरण !!! गांव भर में कोहराम मच गया। जो जहाँ था वहीं स्तम्भित-सा रह गया। इससे पहले ऐसी अप्रिय घटना इस गाँव मे कभी नही घटी थी। लोगो की जबान पर यही था:—"क्या जमाना आ गया है ? चोरियाँ तो अनेक प्रकार की सुनी थीं, पर बच्चों की चोरी ?

राम राम, छिः छिः, यह भी कोई चोरी है ? कितना मासूम था वह बच्चा, चाँद का टुकड़ा था । उस पर क्या गुजरती होगी ? पापी, नीच उसे उठाकर क्यों ले गये ? क्या बिगाड़ा था उसने उनका ? माँ-बाप के विना भला वह कैसे रहेगा ? बदमाश उसे तंग करेंगे, अनेक तरह की यातनाएँ देंगे । उसे बरबाद करने में कोई कोरकसर उठा नहीं रखेंगे । फूलों जैसा कोमल शरीर, लाड़-प्यारमें पला बेचारा रमेश उस नरक-कुण्ड में कैसे रहेगा ? रो-रोकर जान ही दे देगा । परमात्मा बचाये ऐसे नराधम राक्षसों से ।"

यही चर्चा प्रत्येक जबान पर थी। सारा गाँव आश्चर्य, आशंका, भय, व्याकुलता, आक्रोश में डूबा हुआ था ।

पण्डित दीनानाथ सोहनपुर के धार्मिक, लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति थे। उनकी धर्मपत्नी रमादेवी भी पतिपरायणा सती-साध्वी महिला थीं । दोनों का जीवन आदर्श था । अधेड़ अवस्था तक उनकी कोई सन्तान न हुई । सन्तान के अभाव में घर सूना होता है । उनका घर उन्हें मानो काटने दौड़ता था। जीवन में सदा अभाव ही नहीं रहता । देने वाला चाहे तो सब कुछ ही दे सकता है। दम्पति ने पूजापाठ, जपतप, व्रत-नियम-उपवास प्रारम्भ कर दिया । साथ में दवादारू का सेवन भी चलने लगा । रात-दिन जाग-जागकर देवी-देवता मनाने लगे । साधना की अजस्र धारा बहने लगी । साधु-सन्तों, पण्डितों, पुजारियों, ज्योतिपियों, मुनियों-गुनियों के सम्मिलित आशीर्वाद से रमा की सूनी गोद भर गई । रमेश के रूप में गगन का चाँद धराधाम पर उतर आया । गृह में आनन्द की पयस्विनी प्रवाहित हुई । पत्थर पर दूब जम गई । चातक ने स्वाती का जल पाया । रमा को जीवन का लाभ मिला। अब उसे लोक-लज्जा की कोई चिन्ता नहीं रह गई। दीनानाथ भी पितृ-ऋण से मुक्ति पा जाने के कारण परम प्रसन्न थे । केवल सायुज्य-मुक्ति की कामना शेष रह गई ।

बालक रमेश को वे ध्यान से रखते, कहीं पलभर के लिए भी वह बाहर निकलता तो उनका हृदय व्यग्र हो उठता था । भला वियोग की घड़ियाँ किसे प्रिय होती हैं ! रमेश के आँखों के सामने होने पर उनका स्वर्णिम संसार आबाद रहता था । उसकी एक मुस्कान पर जीवन-लतिका

पुष्पित-फलित हो आन्दोलित हो उठती थी। सुख में दिन व्यतीत होते परिलक्षित नहीं होते।

रमेश की पंचम वर्ष-गाँठ पर धूमधाम से धार्मिक कार्य सम्पन्न हुए। अच्छे-अच्छे कपड़े पहनाकर उसे सजाया गया। वस्त्राभूषणों से रमेश की दीप्ति दूनी हो गई। तिलक कर उपाध्याय ने रक्षा-सूत्र बाँधा। सप्त चिर-जीवियों से चिरायुष्य की सप्रेम कामना की गई। प्रसाद लगाया गया। वर्ष-फल के क्रूरग्रहों की शांति के लिए जप-हवन के अतिरिक्त दान कराया गया। रमेश भी पिता की आज्ञाओं का पालन करता हुआ धार्मिक, सामाजिक कृत्य तन्मयता से करता रहा। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' कहावत अक्षरशः सत्य साबित हो रही थी। उसकी अपूर्व छवि दम्पति के सजल नेत्रों में नाच रही थी। किसे पता था कि 'रंग में भंग' होने वाला है। रमेश के जीवन पर नवीन धूमकेतु का उदय होने वाला है।

पूजा के बाद दीनानाथजी जप करने में लग गये। रमा गृह-कार्यों में व्यस्त हो गई। रमेश अपने नये वस्त्रों को दिखाने के लिए अपने साथियों की टोली में जा मिला।

गाँव से बाहर पंडित जी का घर था। झाड़ियों की सघनता भयानक थी। अरण्य की शून्यता-सी वहाँ छाई रहती थी। हमजोली बालकों में जाकर रमेश खेलने में व्यस्त हो गया।

कितनी निश्चिन्तता होती है शैशव में!

विपत्तियों के आने का कोई नियत मार्ग नहीं होता। सक्रिय दस्युओं ने अचानक झाड़ियों से निकल कर रमेश का अपहरण कर लिया।

रमेश के अपहरण से दीनानाथ तथा रमा की दशा शोचनीय हो चली। पल-पल में वे मूर्च्छित हो उठते। उनकी बसी-बसाई हुई दुनिया उजड़ रही थी। केवल वे ही दुःखी नहीं थे, बल्कि सारा गाँव उससे प्रभावित था। तरह-तरह के आश्वासनों से सहानुभूति के भाव प्रदर्शित किये जा रहे थे। यह विपत्ति गाँव की विपत्ति थी। दम्पति को धीरज कैसे बँधे। सामने सर्वस्व जो लुट रहा था। हृदय को सान्त्वना देने के लिए मानो आँखों से प्रलय-प्रवाह ही उमड़ रहा था। प्रिय-वियोग असह्य होता है।

अपहृत रमेश घनघोर जंगलों में पहुँचा दिया गया। पर्वत की कन्दराओं में छिपने वाले दस्युओं का यह कोई नया काम नहीं था-योजनाबद्ध उनकी गतिविधियां निरन्तर चालू थीं। रमेश को लाकर सरदार के सामने उपस्थित किया गया, जिसे देखकर वह भयभीत नहीं हुआ।

'क्या नाम है ? कपड़े तो अच्छे पहने हुए है ?' बनावटी हँसी में सरदार बोला।

'हमाला जलम दिन है। कपले मां ने पहनाये थे। घल में मिठाइयां बतेंगी।'' बालक ने नैसर्गिक बाल-सुलभ सरलता से उत्तर दिया।

'हम भी तुम्हें मिठाइयां खिलायेंगे। चढ़ने को घोड़ा देंगे। अच्छे-अच्छे कपड़े पहनायेंगे। रोज-रोज ही तुम्हारा जन्म-दिन मनायेंगे।' सरदार ने साभिप्राय मुस्कराते हुए कहा।

"तब तो हम यहीं लहेंगे। यहां खेलने के लिए हमारे साथी भी मिलेंगे। हम मिल कर खेलेंगे।" रमेश ने बाल-सुलभ चेष्टा से कहा।

सरदार को अपनी सफल नीति का एहसास हुआ। मूँछों पर ताव देकर संकेत से बालक को कन्दरा में भेजने का आदेश दे दिया। रमेश के लिए अपेक्षित प्रबन्ध कर दिया गया।

खाने-पीने, कपड़े-लत्ते के अतिरिक्त आया का भी प्रबन्ध कर दिया गया था पर 'मां' की ममता कहां ? मनुष्य परिस्थितियों का दास होता है। समय ने सब कुछ भुला दिया। कठोरता से रमेश पर निगरानी शुरू हुई। भीख माँगना, चोरी करना, जेब काटना, रोना, गिड़गिड़ाना कलाओं में रमेश को पूर्ण प्रशिक्षित कर दिया गया। विधि का विधान किसे मालूम होता है।

वह चालाकी क्या जिसका भेद खुल जाये। पंडि दीनानाथ ने पुलिस में रिपोर्ट दर्ज करा दी थी। सरगर्मी से जाँच शुरू होने पर भी कुछ पता नहीं चला। यह कोई नया मामला नहीं था। इसकें पहले भी इस तरह की अनेक घटनाओं की सूचना पुलिस में दी जा चुकी थी। सही पता-सुराग मिलना कठिन था। दीनानाथ भाग्य के भरोसे जीवन नैया को छोड़ सन्तोष कर बैठे। पिता का हृदय होने के कारण उनके मानसपटल पर विस्मृति का आवरण

पड़ गया पर ममतामयी माँ का हृदय कैसे शान्त हो सकता था ! यह एक ऐसी चोट थी जिसकी कोई दवा नहीं । रमा का जीवन भारभूत हो गया ।

विश्वविद्यालयों में दीक्षान्त समारोह होते हैं । दस्युओं के विश्वविद्यालय में भी यही प्रथा थी । प्रशिक्षण के बाद सरदार का दीक्षान्त भाषण हुआ । प्रशिक्षित स्नातकों को उनके भावी कर्तव्यों का निर्देश कर महत्वपूर्ण कार्यों में योग्यतानुसार नियुक्त कर दिया गया । यह ऐसा विश्वविद्यालय है जहाँ के स्नातक बेकार नहीं होते। काम-धंधों में उन्हें लाजिमी तौर पर लगा दिया जाता है ।

रमेश को उसके साथियों के साथ शहर में प्रयोगात्मक कला-प्रदर्शन के लिए भेजा गया । प्रथम परीक्षण में ही उसका हस्तलाघव प्रकट हुआ । जितनी प्राय दस पुराने स्नातकों में नहीं हुई उससे कई गुनी अधिक प्रथम दिन ही उसकी हाथ-सफाई से हुई । सरदार खुशी से नाच उठा । मस्तक सहलाते हुए शाबाशी से पीठ थपथपाई । उसके मदघूर्णित नेत्रों में लाल डोरे नाच रहे थे । अभ्यास-क्रम बढ़ाते-बढ़ाते रमेश दस्युकला में पारगत होकर नये लोगों के लिए निर्देशक बन गया । सरदार का कृपा-भाजन होने से सारे दस्यु उसे ही उसका उत्तराधिकारी समझने लगे । उसकी हस्तलाघवकला से कितने घर बरबाद हुए इसकी सही-सही गणना कौन कर सकता है ।

सुप्रयुक्तदम्भ का भी कभी न कभी भंडाफोड़ अवश्य होता है । शहर में रूप बदल कर भीख माँगते हुए कई दस्यु बालक आवारागर्दी के जुर्म में गिरफ्तार कर लिए गये । सरकार ने कानूनन भीख माँगना बन्द कर दिया था । प्रजातन्त्रात्मक राज्य में भीख से बढ़कर अभिशाप और क्या हो सकता है ? यह समाज का कलंक है । मानवता का मूर्तिमान अपमान है । उनमें रमेश भी शामिल था । पकड़े जाने पर उसने अनेक चालाकियाँ चलीं— बेहोशी का अभिनय, करुणक्रन्दन; पर सब व्यर्थ गया । पुलिस मनोविज्ञान की पंडित होती है । 'सौ चोट सुनार की एक लोहार की ।' सारी कमियाँ वह इसी में निकाल लेना चाहती थी । उसे पूर्ण सन्देह था । रहस्योद्घाटन की आशा में बालकों को पृथक-पृथक रखा गया । पूर्ण आवभगत की गई । दुर्लभ पदार्थों को सुलभ किया गया । रुपये-पैसे दिये गये, अच्छे-अच्छे कपड़े खिलौने, शृंगार-सामग्रियाँ प्रस्तुत की गईं । उनके लिए स्वर्ग उतार कर

रमेश ही नही था। उसके पेशेवर साथी और भी वहाँ मौजूद थे। जान पड़ता था ये सभी सफल निर्वाचन से ही यहाँ तक पहुँचने मे कामयाब हो सके हैं।

जेलर उदार विचारो का कर्मठ व्यक्ति था। अपराधियों मे राष्ट्रीय भावना जगाने की भरपूर कोशिश करता था। सुधार की दिशा में उसका प्रयास स्तुत्य था। पुराना जमाना होता तो उसे इतनी परेशानी नही होती—केवल पिटाई से भूत भगाया जा सकता था, जो उसका जन्मसिद्ध अधिकार था, किन्तु वह जमाना लद गया था।

जेलर सुरेशचन्द्र गुप्ता हार मानने वाले व्यक्ति नही थे। उनका विश्वास था बाल-अपराधी एक न एक दिन सही रास्ते पर अवश्य आ जायेगा। रमेश को खुलकर शैतानी करने का दुःस्साहस हुआ। साथियो मे नेतागिरी शुरू की। जहाँ जब मौका मिलता वह भड़काने, आग लगाने की चेष्टा करता। सक्रामक रोग शीघ्र फैलता है। रमेश की बातों मे आकर एक दिन अपराधियो ने भूख हड़ताल कर दी। खबर पाकर जेलर वहाँ आया। कैदियों को समझाने-बुझाने का असफल प्रयत्न किया। फिर भी वह निराश नही था। उसने कहा—

"तुम लोगों का यह कार्य उचित नही है। तुम्हें खाना खाना चाहिए। हम तुम्हारी उचित शिकायतो पर अवश्य ध्यान देंगे।"

"हम खाना नही खायेंगे। ऐसा गन्दा खाना पशुओ को भी नही दिया जाता। यहाँ सुधार-नाटक व्यर्थ खेला जाता है। हमे गुमराह किया जा रहा है, बरबाद किया जा रहा है। ऐसे खाने से तबीयत ऊब गई है। रोटी अच्छी नही बनती। शाक घास के समान उबाल कर बनाया जाता है। दाल-पानी मे एकता नही रहती। उसमे बदबू आती है, हमारी वही राजसी जिन्दगी अच्छी थी जहाँ मधुकरी वृत्ति मे भँवरे जैसा रस लिया करते थे। दुनिया पागल हो गई है जो जेलो को सुधार का स्थान कहती है"—रमेश ने समवेत प्रतिनिधि स्वर में कहा।

जेलर लाचार हो चला गया। पानी चढता है तो उतरता भी है। कई दिनों के बाद हड़ताल टूटी। अपराधियों को फिर इधर-उधर बैरकों मे बिखेर दिया गया। रमेश विशेष निगरानी मे ले लिया गया जहाँ सुधार की दिशा मे

विशेष प्रयास किया जाता था। धर्म-संस्कृति शिक्षक पं० दीनानाथ ने एक दिन बाल अपराधियों को संबोधित करते हुए कहा:—

'बालक स्वय अपराधी नहीं होता है बल्कि उसे स्वार्थी लोगों के द्वारा जानबूझकर वैसा बनाया जाता है। इनमें से कई बालक अबोध दशा में डाकुओं द्वारा चुराये गये होंगे। उस समय उन्हें दुनिया का ज्ञान नहीं के बराबर होता है।

'वे अनेक प्रलोभनों में फँसा लिए जाते हैं। उनके संस्कारों को भ्रष्ट करने की कोशिशें की जाती हैं। उन पामरों को समाज-द्रोह में सफलता मिल जाती है। सरल स्वभाव के बालक अनजाने उनके जाल में फँस जाते हैं। उनका समाज से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। केवल अपराधों की दुनिया उनकी एक मात्र दुनिया बन जाती है। इस तरह कई घर बरबाद हो जाते हैं। माता-पिता की आशाओं पर पानी फिर जाता है। अमृत के स्थान पर विषपान कराया जाता है। देश की आशा-किरण बालकों को अपराधी बना जघन्य कृत्यों को प्रोत्साहित किया जाता है।

'बच्चो। तुम देश की आशा के केन्द्र हो। तुम गाँधी, जवाहर, सुभाष बन सकते हो। तुम में वही ज्योति जल रही है जो भगवान राम कृष्ण, बुद्ध, महावीर, गोविन्द, शिवाजी, महाराणा में जलती थी। तुम अच्छे हो, अच्छे बन सकते हो, अच्छे बनो। सच्चे-सभ्य नागरिक बनकर जीवन निर्वाह करो। प्रतिज्ञा करो आइन्दे भूलकर भी अपराध की ओर प्रवृत्त नहीं होओगे। पढ़ोगे, लिखोगे, महान् बनोगे। देश सेवा करोगे। सेना में भर्ती होकर शत्रुओं से लोहा लोगे। सच्चे मानव बनोगे। दानवता पर विजय पाओगे। कला-कुशलता सीख-कर देश को स्वर्ग बनाओगे। भगवान पर भरोसा रखो, वह हृदय से प्रार्थना करने पर गुनाहों को माफ कर देता है।'

धर्म-शिक्षक के उपदेशों का अनुकूल प्रभाव पड़ा। बालकों के नेत्र ध्यानस्थ होकर क्रांति का पाठ सुन रहा था। सहसा उसके नकली—'भगवन् ! क्षमा करो। हम भूले-भटके थे। आज [illegible] हो गया।'
के चरणों में रमेश सदा के लिए समर्पित हो गया।

रमेश का सुधार जारी था। धर्म-शिक्षक से उसका निकटतम सम्पर्क बढ़ता गया। सूर्य से बादलों का आवरण धीरे-धीरे हटने लगा। जितनी देर उपदेश होता वह शान्त हो बैठा रहता। प्रेम से सुनता, समझता, उस पर अमल करने की प्रतिज्ञाएं करता। दोनों के हृदय-तार एक हो गये थे।

शिक्षक रमेश की प्रगति से सन्तुष्ट थे। कारागार में उसकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध कर दिया गया था। वह मन से पढ़ने लगा। उसने धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ माध्यमिक परीक्षा भी उत्तीर्ण कर ली। शिक्षक ने उसे दिल खोल कर आशीर्वाद दिया। 'पारस परस कुधातु सुहाई' रमेश अब अपराधी नहीं रह गया था। उसने नम्रतापूर्वक अपने संदेहों को गुरुचरणों में रख दिया—

'भगवन् हमारा सुधार तो हो रहा है। किन्तु जब हम यहां से निकलकर जायेंगे तो ठौर ठिकाना न होने से पुन: मार्ग भटक जाने का भय है। क्या समाज हमें अपनाने के लिए तत्पर होगा ?'

'मैंने तुम्हारा अभिप्राय जान लिया है। समाज का रूप परिवर्तित हो रहा है। उसकी प्राचीन मान्यताएं बदल रही हैं। प्रभु पर भरोसा रखो, पुन: भटकने का प्रश्न पैदा ही नहीं होता।'

शिक्षक के आश्वासन से रमेश प्रकृतिस्थ हो चला। मानस में उठे हुए आशंका के बादल पलभर में विलीन हो गये। कारागार की भित्तियों पर बड़े-बड़े पोस्टरों पर लिखे 'यह जेल नहीं है सुधारगृह है' वाक्य का सही अर्थ उसे आज भलीभांति समझ में आ गया। उसे आज जीवन में प्रथम बार सन्तोष का मधुर अनुभव हुआ। शिक्षक की शिक्षाएं मस्तिष्क में वज्रलेख हो गई।

रमेश को जेल में आये चार वर्ष पूरे हो गये। आज एक वर्ष की छूट देकर उसकी सजा का समय समाप्त हो रहा है। आज वह अन्यमनस्क-सा अवश्य है पर हृदय में उत्साह की कमी नहीं है। जीवन के प्रति आस्था जागृत हो गई है। शिक्षक के अमर वचन उसके अन्तराल में वैसे के वैसे चित्रित हो गये हैं। अब वह मार्ग पा चुका है। फिसलने की आशंका कहां ? भगवान पर भरोसा जो है।

चाहती थीं। मानव-माँस के जलने की दुर्गन्ध ने वातावरण को दम-
बना दिया था।

वह कूदना चाहती थी कि एक आवाज़ सुनाई दी—

"ठहरो................"

वह चकित सी रुक गई

× × ×

जैसलमेर का स्वाभिमानी शासक राठौड़ लक्खाजी---हृष्ट-पुष्ट शरीर, गोल चेहरा, बड़ी-बड़ी आँखें, लम्बी नाक, मूँछें भौहों को छू रही थीं। कदमों में एक दृढ़ता, हाथ तलवार की मूठ पर रहता था—ऐसा था वह बाँका क्षत्रि गुलामी करना पसन्द नहीं किया–बात का धनी जो था। मृत्यु का आलिंगन करना तो प्रेयसी के गले मिलने के समान मानता था। इसी कारण तो रण में मौत भी उसका रुद्र रूप देखकर काँप उठती थी। मुण्डों की माला के बीच मृत्यु को भी मरण-वेदना अनुभव हो रही थी।

एक ओर था भारत का निरंकुश शासक औरंगजेब जिसे किसी हिं नरेश की स्वतन्त्रता पसन्द न थी। वह येन-केन प्रकारेण उन्हें अपने अधीन रखना चाहता था। दरबार से उठकर जब लक्खा जी आया था तो उन्हें मनाने के उसने अनेक उपाय किये। पद का लालच, पैसे का मोह और युद्ध का भय भी दिखाया, मगर राठौड़ डिगा नहीं। इस पर औरंगजेब खीझ उठा और उसने अपनी विशाल वाहिनी जैसलमेर को फतह करने भेज दी।

जैसलमेर दुर्ग के चारों ओर मुगल सेना का घेरा। सेना ऐसी बिखरी पड़ी थी मानो टिड्डी दल उगते धान पर पड़ा हो। समझौते का प्रस्ताव लक्खाजी के पास भेजा गया। मगर समझौते के प्रस्ताव का उत्तर दिया तलवारों की धारों ने।

दुर्ग से सेना बाहर की ओर निकल पड़ी। राजपूतों की तलवारों ने तो कहर ढा दिया। जिधर से राजपूत गुजर जाते मुगल सैनिकों की लाशों के अम्बार लग जाते और जिधर लक्खाजी मुड़ जाते उधर तो प्रलय ही मच

जाती थी। चारों ओर रक्त और मांस की दुर्गंध फैलने लगी। मगर मुगल सेना तो समाप्त ही नहीं हो रही थी। वह तो दशानन के सिर की तरह घटकर भी बढ़ रही थी। राजपूत लड़ते-लड़ते गिरने लगे। दिन-प्रतिदिन संख्या कम होने लगी। दुर्ग की रसद घटती जा रही थी।

आज युद्ध का तैंतीसवां दिन था ....सांझ को..............

राठौड़ सवाईजी अपने निजी कक्ष में बैठे थे। पास में ही सेनापति, कामदार, मुसाहिब और-और अन्य सरदार बैठे थे। युवा सेनापति का हाथ बार-बार अपनी तलवार की मूठ पर जाकर ठहरता था और बायां हाथ मूँछ को मरोड़ प्रदान कर देता था। आँखों के लाल डोरे युद्ध की उन्मत्तता को प्रदर्शित कर रहे थे। कामदार मेहता वृद्ध मगर तेजस्वी; सफेद दाढ़ी और चमकीली आँखें, अनुभवयुक्त रोबीले व्यक्तित्व की परिचायिका थी।

"......... तो फिर अब क्या किया जाय?"— अचानक महाराज ने कहा।

"समझौता कर लिया जाय......."— एक सरदार बोले।

"नहीं......." सेनापति की हुंकार सुनाई दी......"राठौड़ और माटी कटना जानते हैं, झुकना नहीं।"

"मगर इसके अतिरिक्त हमारे सामने और क्या रास्ता है...रसद समाप्त हो रही है पानी भी अब समाप्ति पर है···" कामदार मेहता का स्वर सुनाई दिया।

"इससे क्या फर्क पड़ता है। हम लड़ेंगे और अन्तिम दम तक लड़ेंगे।" सेनापति का निश्चयात्मक स्वर सुनाई दिया।

"परन्तु स्त्रियों और बच्चों का क्या···" कामदार बोल पाते कि इतने में एक नारी स्वर सुनाई दिया।

"वे जौहर करेंगी—माँ पद्मिनी के पदों का अनुसरण करना हम खूब जानती हैं मेहता जी··" अचानक ही महारानी ने प्रवेश करते हुए कहा। चेहरे पर तेज झलक रहा था।

रत्ना और मुणसिंह बचपन से ही साथ खेलते आये थे और आज तक भी साथ-साथ थे। रत्ना मुणसिंह के हस्त-कौशल को देखकर प्रसन्न हो उठती थी। राजमहलो के बागो मे खेलते थे और आज वही रत्ना जौहर में कूदने जा रही है। मुणसिंह अपने को रोक न सका और कूदती रत्ना का हाथ पकड़ लिया।

"क्या बात है मुणसिंह ?"– रत्ना ने सरल हँसी के साथ पूछा।

"तुम जौहर के कुण्ड मे नही कूद सकती रत्ना"– मुणसिंह ने मुस्कराते हुए कहा।

"क्यो ???"– चकित हो रत्ना ने पूछा।

"रत्ना, अग्नि कुँवारी मानी जाती है और तुम भी कुँवारी हो इसलिये ऐसा करना पाप है।"– मुणसिंह मे गम्भीरता थी।

"तो फिर ?"– रत्ना काँपती हुई बोली। क्योकि पाप के नाम पर घबरा जाना स्वाभाविक ही था।

"तुम विवाह कर लो"— मुणसिंह बोला।

"किससे ?"— सुलभ भोलेपन से पूछा रत्ना ने।

"मुझसे"– मुणसिंह ने कहा।

"यह कैसे हो सकता है ?"

"तो क्या पाप की भागी बनना चाहती हो ?"

"नही।"

"तो फिर आओ।"

'चलो' और आँखें नारी-सुलभ लज्जा के कारण झुक गई और रत्ना ने मुणसिंह का हाथ पकड़ लिया। कुण्ड की प्रदक्षिणा में साथ देने लगी। वही कुण्ड जो अपने मे मानव-पिडो को समाहित कर भस्मीभूत कर रहा था, विवाह की वेदी बन गया। चार प्रदक्षिणा पूरी हुई। रत्ना ने मुणसिंह की आरती की और कुंकुम टीका लगाया और मुणसिंह ने अंगूठा काटकर रक्त से रत्ना की माँग भर दी।

"तो अब मैं कूदूं कुण्ड में ?"- रत्ना ने सहज लज्जा व भोलेपन से मुरारसिंह से पूछा ।

"अकेले नहीं रत्ना, मैं भी साथ हूँ" और मुरारसिंह व रत्ना जौहर-कुण्ड में कूद गये । पलभर की दुल्हन जौहर की भेंट चढ़ गई । भोला प्रणय अग्नि के तेज में तेज बन कर मिल गया । लपटें गगन को छूने का प्रयास कर रही थी और धुआं अधिक ऊपर उठकर आकाश को अपने में समाहित करना चाह रहा था ।
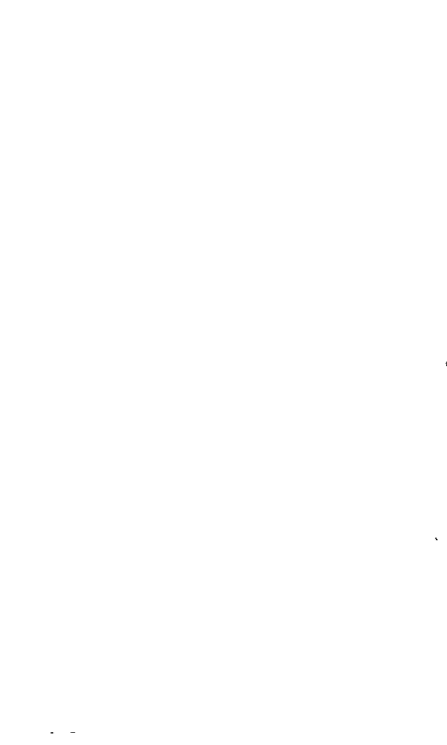
पगली

मदन मोहन शर्मा

●

"मेरी उजड़ी हुई दुनिया को बसालो - मेरे पुंछते सिन्दूर को बचालो – बाबूजी—केवल वैद्यजी के कानों तक यह शब्द पहुँचा दो, मेरे पति को हैजा हो गया है, उन्हे बचा लो बाबूजी, मुझ निराधार पर कृपा करदो, तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ"—यह कहते हुए देवकी बाबूजी के पैरो मे गिर पड़ी। बाबू ने ठोकर मार दी, बाबू

का जूता देवकी का खून चाटने लगा। इस पर भी वावूजी गर्म होकर वोले– "तुझे शर्म नहीं आती, हमको छूते हुए। जाओ तुमको दवा नहीं मिल सकती।"

"वावूजी, मेरे सुहाग की रक्षा करो...ऐसा न कहो– वैद्यजी से दवा दिलवा दो"— रोती हुई देवकी वोली। वावूजी की क्रोध-रूपी अग्नि में घी से आहुति पड़ी और गर्म होकर वोले— "क्या अभी अकल ठीक नहीं हुई...वातें वनाती ही जा रही है...कह दिया एक वार, दवा नहीं मिल सकती।"

देवकी को वैद्यजी के दवाखाने के कोने में खड़े-खड़े दो घण्टे हो गए, किन्तु इस दीन अवला की पुकार को कोई नहीं सुनता। देवकी प्रत्येक व्यक्ति के आने पर वड़े अरमानों से कहती–"मेरे पति को हैजा हो गया है, उनको कोई दवा दिलवा दो।" कहती सवसे है सुनता कोई नहीं। कोई कहता है– "तू कोई लाट साहव है जो तुझ को सवसे पहले दवा दे दें, यह देख, दफ्तर के वावू तक तो खड़े हैं और तू सारे दवाखाने को सिर पर उठा रही है–तेरा पति हुआ या आफत।" इन शब्दों ने देवकी के हृदय पर आघात किया। इस आघात से देवकी तिलमिला उठी और सोचने लगी...'ओ हो। हमारा जीवन भी क्या जीवन है, यदि आज हमारे पास पैसा हो, तो भी हम इन लोगों की वरावरी नहीं कर सकते, हे ईश्वर ! हमको पैदा ही क्यों किया !'

देवकी इन्हीं विचारों में तल्लीन थी।

कुछ समय वाद एक व्यक्ति दवाखाने के अन्दर से एक हाथ में शीशी लिये हुए निकला। आज देवकी को उस दवा की शीशी का क्या मूल्य है– उसका दिल ही जानता है। आज दवा की एक शीशी पर उसका भाग्य निर्भर है – उस शीशी का पानी देवकी को अमृत है। देवकी सोचा करती थी– ये लोग पानी ले जाकर क्या करते है ? क्या इन्सान इससे अच्छा हो जाता है ? दवाखाने से निकलते हुए प्रत्येक व्यक्ति पर देवकी की हसरत-भरी नज़र उठ पड़ती है...इसी उधेड़वुन में लगी हुई थी कि पीछे से किसी की आवाज आई..."देवकी अपने पति का मुँह देखना चाहती है तो चल"...देवकी ...रों से जमीन खिसक गई..."स्वामी...स्वामी। मैं आ रही हूँ, तुम छोड़ मत ... कहती हुई वहाँ से भागकर चल दी। वाजार में लोगों की नजर उस पर

पढ़ने लगी, उसके बिखरे हुए केशों को देखकर कुछ मनचले युवक तरह-तरह की उपाधियों से विभूषित करने लगे। कोई कहता–'मधुबाला से कम नहीं है...' दूसरा कहता है–'नहीं, नर्गिस है।' उस भोली-भाली दुखिया का मजाक उड़ाने वालों से पूछो कि–"क्या भारत की यही सभ्यता है .. मानवता की दुहाई देने वालो, क्या यही तुम्हारी मानवता है? धिक्कार है ऐसी मानवता पर।" देवकी घर पहुँची – देखा, पति की आँखें दरवाजे की ओर लगी हुई थी। देवकी को देखकर वह बोला–"देवकी दवा ले आई?" इन शब्दों को सुनकर स्वामी के पैरों में गिरकर बोली–"नाथ। मैं अभी दवा लाई।" इतना कहकर वह वहाँ से भागी–मानो उसके पर लग गए हों। देवकी दवाखाने के अन्दर घुसती चली गई, वैद्य के पास जाकर बोली–"वैद्यजी मेरे स्वामी मौत के मुख मे हैं–बचा लो–उनको हैजा हो गया है – बचाओ महाराज, मैं हाथ जोड़ती हूँ ...तुम्हारा अहसान जिन्दगी भर नही भूलूँगी – किसी भी कीमत पर बचालो ..मैं दूँगी।"

वैद्यजी आग बबूला हो उठे। बोले, "तू यहाँ अन्दर क्यों आई? क्या तेरे बाप का घर था जो चली आई—निकल यहाँ से।"

"वैद्यजी, मेरे पति बीमार हैं, मुझे दो घन्टे खड़े-खड़े हो गये थे, मेरे अरमानों की दुनिया उजड़ी जा रही थी .मैं इस उन्माद मे थी. माफ करो, मैं अब अन्दर नहीं आऊंगी..." कांपते हुए देवकी बोली।

'तुमने हमसे बाहर से ही दवा क्यों नहीं माँग ली?' – वैद्य जी बोले।

"महाराज, मुझे अपने पति को छोड़े दो घन्टे यहां खड़े-खड़े बीत गये किन्तु किसी ने नहीं सुना, मैं उनकी दशा देख पागल हो गई और अन्दर घुस आई।"

वैद्यजी का पाषाण हृदय पिघला .. वे उसको दवा का पर्चा लिखने लगे कि आवाज आई.. 'देवकी अब किसके लिये दवा लेती है.. तेरा सुहाग उजड़ गया।' यह आवाज देवकी की पड़ोसिन की थी देवकी पैरों में गिरकर पूछने लगी—"क्या यह सच है बहिन...मेरे स्वामी मुझे छोड़ गए?" देवकी तड़प उठी...चीख उठी...दवाखाने से भागी–घर गई एक दम; अपने पति की लाश से चिपट गई और कहने लगी–"नाथ, तुम कहाँ जा रहे हो, मैं अभी दवा ला रही हूँ...स्वामी . बोलो . बोलो .. देवकी को कभी दुखी न देखने वाले

आज...उससे बोलते भी नहीं...मेरे जीवनाधार मुझ निराधार को कहाँ छोड़ चले...स्वामी...नाथ..." कहते हुए बेहोश हो गई।

\+ \+

देवकी विधवा हो गई, उसका सुहाग उजड़ गया। आज देवकी समाज की नजर में पहले से भी अधिक गिर गई। यह सभ्य समाज विधवा से घृणा करता है।

देवकी बाजार में घूमती है, कहती फिरती है—"समाज के पुजारियो, क्या यही तुम्हारा न्याय है...? किसी के अरमानों की नगरी में आग लगाने वालो... तुम्हें क्या मिल गया...? क्या मैं इन्सान नहीं...? क्या तुम इन्सान नहीं...? क्या हम सब उस ईश्वर की संतान नहीं ?... बोलो, मैं किस-किस के दरवाजे पर ठोकर खाऊँ ! अपने को मानव कहने वालो क्या इसी पर अपनी मानवता की दुहाई देते हो ? इस मानवता से तो पशुता अच्छी है। धिक्कार है ऐसी मानवता पर !...अबला के जीवन को बर्बाद करने वालो, इस पाप के भागी तुम हो। तुम नहीं, वैद्य है जिसने दवा नहीं दी किन्तु मेरा सुहाग उजड़ने में सहायता दी। वैद्य......पापी हो। तुम निर्दयी-निष्ठुर और लोभी हो—मैं अभी तुम्हारे दवाखाने में आती हूँ। तुम्हारे दवाखाने की उन शीशियों को फोड़ दूँगी जिनमें पानी भर कर भोली जनता को धोखा देते हो। दवाखाने में आग लगा दूँगी....." यह कहते-कहते दवाखाने के पास पहुँची। देखा दवाखाना बन्द है। वहीं उसी कोने में खड़ी हो जाती है, जहाँ से दवा माँगी थी, फिर उसी दृश्य को याद कर अपने आप ही कहती है—'मेरे पति को हैजा हो गया है, दवा दिलवा दो बाबूजी।'

देवकी के सुहाग को उजड़े दो मास हो गए। उसे कोई पागल कहता है। कोई कहता है पति-वियोग में पागल हो गई है। देवकी का पागलपन भी बड़ा विचित्र है। शांति और करुणा की मूर्ति बनी रहती है। बच्चे पागल [illegible] ...यां देते हैं, पत्थर भी फेंकते हैं किन्तु देवकी कुछ कहती नहीं [illegible] ...दिनरात उसी दवाखाने के कोने में खड़ी रहती है। दवाखाने [illegible] ...पर आने-जाने वालों से दवा प्रार्थना करती है, पैरों में गिर पड़ती [illegible] । देवकी की इस करुणामयी मूर्ति से सब डरते हैं। वैद्यजी सोचते हैं—क्या

कहूँ, इस पगली को कैसे दूर करूँ। मरीज आने मे डरते हैं। क्या मेरा रोजगार ठप्प होगा ? वैद्यजी स्वय अपने आपसे घबड़ाते हैं। पगली के डर के कारण दवाखाने के दूसरे द्वार मे आते-जाते हैं। उनसे लोग कहते हैं— वैद्यजी, इसे पागलखाने भिजवा दें। वैद्यजी सबसे 'हाँ' कह देते हैं।

वैद्यजी के लाख प्रयत्न करने पर भी दुनियाँ की कोई ताकत देवकी को वहाँ से न हटा सकी। खाने-पीने के समय, उठने-बैठने के समय वैद्यजी को देवकी का चित्र दिखाई देता है। वे सोचते है--इस अबला का सिंदूर पोछने वाला, उसकी दुनिया लूटने वाला मैं हूँ। यदि मैं सबसे पहले दवा दे देता तो मेरा कर्त्तव्य पूरा हो जाता, चाहे वह बचता या नही। मैंने एक नही दो जानें ली हैं। मैंने क्या किया भगवान! क्या वह इन्सान नही, क्या उसके दिल नही। ये लोग अपना काम कर अपनी उदर-पूर्ति करते हैं, पेशा निम्न है तो क्या, समाज की कितनी सेवा करते हैं। ओ रक्षा करो ..रक्षा करो . भगवान् देवकी का उद्धार करो, भगवान ! मैं प्रायश्चित की अग्नि मे जला जा रहा हूँ ..मुझे बचाओ !

\+ +

वैद्यजी की आय मे अन्तर आने लगा। देवकी के कारण मरीज उनके दवाखाने पर न आकर अन्य वैद्य के पास जाने लगे क्योंकि पगली देवकी की करुण दशा देखकर आँखों मे आँसू आ जाते थे। कितना शात चेहरा! दुनियाँ पागल कहती किन्तु पागलपन का कोई हाव-भाव ही नहीं। वैद्यजी सोचने लगे, क्या दवाखाने को ही बदल दूँ ? क्या करूँ -- हे भगवन ! इसका बदला यह तो नही कि मेरा रोजगार खोकर मुझे भूखा मारो। मैं खाऊँगा क्या ? बताओ भगवन्। देवकी उसी कोने मे खड़ी हुई कहा करती है—मेरे पति को हैजा हो गया है, दवा दिलवा दो बाबूजी।' उसके ये शब्द उसकी जिन्दगी के साथ थे।

एक रात की बात। किसी रोगी को दवा देने के लिये वैद्यजी तड़के ही दवाखाने पर डरते-डरते आये, टार्च जलाई, देखा कि पगली है या नही। कोने में देखा तो वहाँ पगली नहीं थी। वैद्यजी ने सोचा--बेचारी इस कड़ाके की सर्दी मे न जाने आज कहाँ चली गई। यह सोचते हुए वैद्यजी ने अपनी

टार्च जेब में रख ली,ताला खोलने को आगे बढ़े, किसी ठण्डी वस्तु से पैर लगा। वैद्यजी एकदम चौंक गए, जेब में से टार्च निकालकर जलाई, तो उनके मुँह से निकल पड़ा····· 'अरे पगली तू है।' वैद्यजी काँपने लगे। सबसे पहले देवकी को गोदी में उठाकर बेंच पर लिटाया और उपचार करने लगे। उनका दिल अन्दर से कहने लगा, अब उपचार करने से क्या होता है? यदि तू पहले ही दवा दे देता तो कोई नहीं मरता, किसी का घर नहीं उजड़ता। अब तू मिट्टी को क्यों छूता है? क्या यह वही देवकी है जिसके छूने में पाप था? दवा देने में पाप था? इसकी दु:खभरी आवाज सुनने में पाप था? क्या यह वही देवकी है जो लोगों के जूतों से ठुकराई जाती थी? देवकी तुम देवकी ही थीं। मुझे क्षमा करना देवी, मैंने तुम्हारा सुहाग छीना; इसके साथ-साथ तुमको भी छीना। बोलो देवी, क्या तुम मुझे क्षमा नहीं करोगी? यह दवाखाना तुम्हारा है। बोलो, तुम्हें क्या दवा दूँ? नहीं·····तुम्हारा है·····ले जाओ। देवी, तुम भी उसी परम परमेश्वर की संतान हो जिसने मुझ अभागे को पैदा कया है।

+ +

नित्यानुसार भगवान भास्कर अन्धकार को विदीर्ण करते हुए उदित हुए। मरीज वैद्यजी के पास आने लगे और आकर क्या देखते हैं कि देवकी का मृत शरीर पड़ा है। उसका सिर वैद्यजी की जंघा पर रखा है। यह देखकर लोग अचंभा करने लगे। कहने लगे— वैद्यजी, क्या यही तुम्हारा धर्म है? तुमने भंगी की छोकरी का सिर अपनी जंघा पर रखा है? वैद्यजी तिलमिला उठे और बोले, 'समाज में रहने वालो—सबसे पहले तुमसे मेरा एक सवाल है, वह यह कि हम सबको किसने पैदा किया है?'

"ईश्वर ने", सब बोल उठे।

"तो बताओ. इस लाश और हम में क्या अन्तर है?"

"यह भंगी है"·····सब चिल्ला उठे।

क्या पेशे से जाति बन जाती है? यदि यह भंगी का पेशा करती है तो इसका यह मतलब तो नहीं कि हमारे काम की नहीं। भाइयो! यह भी इन्सान है। इसके हमारी तरह दिल है। ये भी हमारी तरह रहना-सहना जानती है। इनसे दूर रहने का प्रयास न कीजिये। भारत के सपूतों को साथ

लगाइये। आज इस देवी की – भारत की सच्ची सेविका की – लाश पड़ी हुई है—आओ इसे सब मिल कर उठायें ·· ।

लोगों के पाषाण-हृदय पिघले। आज प्रत्येक मनुष्य उस देवकी की लाश के नीचे अपना कंधा लगाना चाहता है। यह वही देवकी है जो दवा-खाने पर दो घन्टे दवा के लिए खड़ी रही थी। बाबूजी के जूते ने उसका खून चाटा था। लोगों ने उसे पगली कहा था। आज वही देवकी उनके कंधों पर है।

+ +

लाश श्मशान पहुँची चिता जली। लोगों की दृष्टि चिता की तरफ थी। चिता धू-धू कर जल रही थी। वैद्यजी को ऐसा लग रहा था मानो वह देवकी चिता में से भी कह रही है ·· 'मेरे पति को हैजा हो गया है, दवा दिलवा दो बाबूजी।'

वैद्यजी की आँखों में आँसू आ गए।

चिता शान्त हुई। लोगों ने देवकी की राख को मस्तकों पर लगाया। वैद्यजी ने अन्तिम बार कहा—"देवी मुझे क्षमा करना। तुमने मुझे जीवन में एक पाठ पढ़ाया। उस पाठ को जीवन भर याद रखूँगा। आज से मेरा दवाखाना सबके लिए खुला हुआ है। क्षमा करो क्षमा करो देवी ··" यह कहते हुए उन्होंने चिता पर शीश झुका दिया।

गुलशन

हीरालाल शर्मा 'पीयूष'

●

कासिम गुलशन को बार-बार समझा रहा था परन्तु गुलशन, कासिम का समर्थन नहीं कर रही थी। कासिम कह रहा था कि नवाब अलीवर्दी खाँ की मंशा पूरी हो जाने पर उसे बहुत बड़ी जागीर मिलने की आशा है। जागीर मिलने पर गुलशन महलों में रहेगी, उसके शरीर पर हीरे और जवाहिरातों के

गहने लदे हुए दिखाई देंगे। अनेकानेक नौकरानियाँ उसकी सेवा करेंगी–और न जाने इस प्रकार के कितने प्रलोभन कासिम गुलशन को दे रहा था। परन्तु गुलशन के सच्चे और निश्छल हृदय में कल्पनात्मक आनन्दों के आश्वासनों के लिए कोई स्थान न था।

कासिम बंगाल के नवाब अलीवर्दी खाँ की सेना में मध्यम दर्जे का सैनिक था। मराठों ने बंगाल में चौथ वसूल करने के लिए प्रवेश किया। नवाब से चौथ की राशि पचास लाख रुपये निश्चित की गई। परन्तु नवाब में न तो पचास लाख रुपये देने की सामर्थ्य थी और न मराठों का प्रतिरोध करने के लिए पर्याप्त सैनिक सज्जा। इस समस्या से छुटकारा पाने के लिए नवाब ने एक उपाय सोचा कि सन्धि के लिए वार्तालाप करने के बहाने मराठा सरदार भास्कर पंत व अन्य सरदारों को अपने शिविर में बुलाया जाय और धोखे से उन्हें मार डाला जाय। भास्कर पंत पर वार करने के लिए कासिम को चुना गया था। कासिम ने संकल्प किया था कि एक ही वार से वह भास्कर का काम तमाम कर देगा। बदले में नवाब ने कासिम को एक जगीर तथा कुछ नक़द पुरस्कार प्रदान करने का संकल्प किया था। कासिम ने मराठा शिविर में जाकर कुरान और अल्लाह की अनेक शपथ लेकर भास्कर पंत को आश्वस्त कर दिया कि उनके साथ कोई धोखा न होगा। यह भी तय हुआ कि नवाब का शिविर शहर से दूर लगाया जाय तथा वह सेना से रहित हो। कासिम ने दूसरे दिन के लिए भास्कर पंत तथा अन्य मराठा सरदारों को नवाब के शिविर में आमंत्रित कर दिया। मराठा शिविर से कासिम सीधा घर पहुँच गया– मनमें अनेकों आशाएँ और उल्लास लेकर। उसने सोचा तो यह था कि गुलशन इस बात से अत्यन्त खुश होगी, परन्तु हुआ इसके विपरीत। गुलशन को कासिम की बातें धुएँ के बादलों के समान सार-हीन प्रतीत हो रही थीं। जब गुलशन ने कासिम की योजना के प्रति कोई उत्साह न दिखाया तो वह उत्तेजित हो उठा और बोला, "तुम बेवकूफ हो जो इतनी खुशखबरी पाकर भी खुश नहीं हो रही हो। जानती हो यह सब मैं क्यों कर रहा हूँ? केवल तुम्हारी खुशी के लिए और तुम्हारे आराम के लिए।"

गुलशन कुछ क्षण तक अपलक विचार-मग्न रहने के पश्चात् बोली— "मेरे सुख और आराम का ख्याल करने से पहले अपने सुख और आराम का

ख्याल तो कर लेते । धोखे से किसी की हत्या करके सबसे बड़ा पाप कमा र
खुदा के सामने क्या जबाव दोगे ? मैं ज्यादा तो कुछ नहीं जानती हूँ, इत
जरूर जानती हूँ कि दुश्मन को धोखे से मारने की बजाय लड़ाई के मैदान में
खुद मर जाना अच्छा है । वैसे तुम्हारी मर्जी में जो आये सो करो, लेकिन खु
से जरूर डरो ।" ऐसा कहकर गुलशन चुप हो गई और शून्य में टकटकी लगा
अपने में खो गई । उसे ज्ञात नहीं हो सका कि कासिम उसके पास से उठ
कब चला गया । मन:स्थिति पर नियंत्रण पाने पर गुलशन उठी और दरवाजे प
आकर बाहर की ओर देखने लगी । उसने देखा—कासिम घोड़े की पीठ प
सवार होकर हवा से बातें करता हुआ उड़ा जा रहा है । वह तब तक देखती
रही जब तक कि घुड़सवार उसकी आँखों से ओझल न हो गया । अन्त में
एक दीर्घ नि:श्वास लेकर अपने कमरे में लौट आई और लगी अनन्त की ओर
अपलक निहारने ।

+ +

कासिम घोड़े पर उड़ा जा रहा था । उसका मन भी उड़ानें ले र
था । आज से पहले वह गुलशन को केवल एक स्त्री ही समझता था-एक निरी
स्त्री । परन्तु आज के वार्तालाप से उसके मस्तिष्क पर मानवीयता की छ
पड़ गई थी । उसे अपने कृत्य पर पछतावा हो रहा था परन्तु अब तो को
चारा नहीं था । निर्धारित कार्य पूरा न करने पर अलीवर्दी खाँ की तलवा
ही उसकी गर्दन पर पड़ेगी । और पूरा कार्य होने पर जागीर, धन, पुरस्
महल आदि का आकर्षण ! उसकी मन:स्थिति दो पहलुओं पर झूलने लगी ।
अन्त में पद-लोलुपता और धन-लिप्सा ने उसके मन पर नियन्त्रण किया । व
उत्साह भरे चेहरे से नवाब के शिविर में उपस्थित हुआ । प्रभात हो गु
था । नवाब उत्सुकतापूर्वक उसकी बाट देख रहा था । नवाब ने कासिम
देखते ही प्रश्न किया :—

"कासिम ! काम बना ?"

"हजूर, सोलह आने"— कसिम ने कोर्निश करते हुए उत्तर दि ।

"शाबास? मुझे तुमसे यही उम्मीद थी । देखो कासिम, एक ही द
भास्कर पंत का काम तमाम हो जाना चाहिए और फिर ...." क
को सावधान करते हुए नवाब ने अपने मनोरम संकल्पों की ओर
किया ।

गहने लदे हुए दिखाई देंगे। अनेकानेक नौकरानियाँ उसकी सेवा करेंगी—और न जाने इस प्रकार के कितने प्रलोमन कासिम गुलशन को दे रहा था। परन्तु गुलशन के सच्चे और निश्छल हृदय में कल्पनात्मक आनन्दों के आश्वासनों के लिए कोई स्थान न था।

कासिम बंगाल के नवाब अलीवर्दी खाँ की सेना में मध्यम दर्जे का सैनिक था। मराठों ने बंगाल में चौथ वसूल करने के लिए प्रवेश किया। नवाब से चौथ की राशि पचास लाख रुपये निश्चित की गई। परन्तु नवाब में न तो पचास लाख रुपये देने की सामर्थ्य थी और न मराठों का प्रतिरोध करने के लिए पर्याप्त सैनिक सज्जा। इस समस्या से छुटकारा पाने के लिए नवाब ने एक उपाय सोचा कि सन्धि के लिए वार्तालाप करने के बहाने मराठा सरदार भास्कर पंत व अन्य सरदारों को अपने शिविर में बुलाया जाय और धोखे से उन्हें मार डाला जाय। भास्कर पंत पर वार करने के लिए कासिम को चुना गया था। कासिम ने संकल्प किया था कि एक ही वार से वह भास्कर का काम तमाम कर देगा। बदले में नवाब ने कासिम को एक जागीर तथा कुछ नकद पुरस्कार प्रदान करने का संकल्प किया था। कासिम ने मराठा शिविर में जाकर कुरान और अल्लाह की अनेक शपथ लेकर भास्कर पंत को आश्वस्त कर दिया कि उनके साथ कोई धोखा न होगा। यह भी तय हुआ कि नवाब का शिविर शहर से दूर लगाया जाय तथा वह सेना से रहित हो। कासिम ने दूसरे दिन के लिए भास्कर पंत तथा अन्य मराठा सरदारों को नवाब के शिविर में आमन्त्रित कर दिया। मराठा शिविर से कासिम [illegible] पहुँच गया— मनमें अनेकों आशाएँ और उल्लास लेकर। [illegible] था कि गुलशन इस बात से अत्यन्त खुश होगी, परन्तु हुआ [illegible] गुलशन को कासिम की बातें धुएँ के बादलों के समान [illegible] थीं। जब गुलशन ने कासिम की योजना के प्रति कोई [illegible] उत्तेजित हो उठा और बोला, "तुम बेवकूफ हो [illegible] भी खुश नहीं हो रही हो। जानती हो यह [illegible] तुम्हारो [illegible] और तुम्हारे [illegible] गर्दन [illegible] सशस्त्र [illegible] करने वाले

"तुम एक पठान स्त्री के घर में हो। यहाँ तुम्हें कोई डर नहीं है। बोलो – तुम पर क्या सकट है ?" – गुलशन ने फिर पूछा।

"पहले आततायियो से मुझे बचाओ। वे मेरा पीछा कर रहे है। मेरे सभी परिवार वालों को उन्होंने मार डाला है। वे मेरा पीछा कर रहे थे, मुझे तुम्हारे घर के किवाड खुले दिखाई दिये, मैं उनके पीछे छिप गई और वे लोग आगे निकल गये। मुझे उनसे बचाओ, मैं तुम्हारा एहसान जन्म भर न भूलूँगी।" शरणार्थिनी आँसू पोछती जाती थी और कहती जाती थी।

"कौन थे वे लोग ?"

"नवाब के सिपाही।"

"और तुम कौन हो ?"

"एक मराठा स्त्री।"

"क्या मराठा सैनिक तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते ?"

"उनके साथ धोखा हुआ। इक्कीस मराठा सरदारो को नवाब ने विश्वासघात से मरवा दिया जिनमे मेरा पति भी था। शेष सैनिक अपनी जान लेकर भाग गये।" — कहते कहते उसका गला रुँध गया।

"तुम्हारा नाम बताओगी ?"

"काशीबाई।"

"तुम्हारे पति का क्या नाम था ?"– शकित सी गुलशन ने पूछा।

"भास्कर पत" — उत्तर मिला।

गुलशन का सिर चकरा गया। गुलशन का पति भी आज ही मरा था। उसे अपने पति के इस कृत्य पर कि उसने मराठा सरदारों को कुचक्र का शिकार करवा दिया अत्यन्त क्षोभ हुआ। चाहे कासिम, भास्कर पत की रक्षा करते हुए मारा गया, परन्तु उसका यह बलिदान गुलशन की दृष्टि मे उस अपराध का यथेष्ट प्रायश्चित न था। इसके साथ ही चाहे कासिम नवाब की दृष्टि मे गद्दार था, परन्तु गुलशन की दृष्टि मे उसने वीर की सी मृत्यु प्राप्त की।

गुलशन काशीबाई को अपने कमरे मे ले गई। वह मराठो के आचार-विचारो को समझती थी, अतः उसने आटा, दाल, मसाला तथा अन्य भोजन

सम्बन्धी उपकरण काशीबाई को जुटा दिये। काशीबाई ने अपने हाथ से भोजन बनाया। दोनों ने खाया। कुछ क्षणों में दोनों में ऐसी घनिष्ठता हो गई मानो वे सगी बहिनें हों।

रात के बारह बज चुके थे, दोनों में से नींद किसी को भी नहीं आ रही थी। काशीबाई ने धीरे से कहा—"बहिन एक प्रार्थना है, सुनोगी ?" गुलशन की मौन स्वीकृति का आभास पाकर काशीबाई ने पुनः कहा, "मैं बनारस जाना चाहती हूँ। मार्ग भी नहीं जानती हूँ और मार्ग-व्यय भी नहीं है। हमारे आभूषणादि सभी कुछ तो छीन लिये गये। अब तो आपका ही सहारा है।"

सुनकर गुलशन की आँखें शून्य में ठहर गईं। उसने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया।

सूर्योदय से पूर्व अंधेरे में दोनों उठीं और घर से निकल पड़ीं। लगभग चार या पाँच फर्लाङ्ग ही चली होंगी कि वातावरण में एक प्रकाश सा दिखाई दिया। पीछे मुड़कर देखा आग की लपटें जोरों पर थीं। काशीबाई ने कहा—"बस्ती में आग लग गई मालूम होती है।"

गुलशन—"नहीं, केवल मेरा घर जल रहा है।"

काशीबाई—"चलो वापिस लौट चलो।"

गुलशन—"क्या फायदा होगा ? घर तो जलना ही है। फिर मुझे उसमें रहना भी नहीं है।"

काशीबाई—"तो कहाँ रहोगी ?"

गुलशन—"जिन्दगी भर तुम्हारी खिदमत कर अपने पति के किये हुए गुनाहों को धोने की कोशिश करूँगी।" ज्योंही गुलशन ने कासिम की कहानी सुनाई, दोनों की आँखें भीग गईं।

एक खुदा की औलाद थी, दूसरी परमात्मा की संतान, परंतु दोनों व ह मार्ग पर चली जा रही थीं – स्वयं को अदृष्ट के हाथों में सौंपकर।

मर्यादा का मोल

सुरेश भटनागर

●

मिथिला का दरबार ठसाठस भरा था। तिल धरने को जगह न थी। ऊँचे सिंहासन पर विराजमान थे राजा शिवसिंह और उनके बायीं ओर थी महारानी लखिमा देवी। प्रतिहारी की ओर संकेत करते हुए राजा शिवसिंह ने कहा—"बन्दी को उपस्थित किया जाय।"

दो सैनिकों की तलवार की छाया में बन्दी उपस्थित किया गया।

"तुम्हारा नाम ?"

"विद्यापति ।"

"कहाँ रहते हो ?"

"विसपी में।"

"जानते हो किस अपराध में तुम्हें बन्दी बनाना गया ?"

उत्तर मिला— 'नहीं।"

" वाह ! यह भी खूब रही, अपराधी को अपने अपराध का भी पता नहीं। जानते हो, तुमने कितना भीषण अपराध किया है ?"

विद्यापति ने कहा — "नहीं"

"तुम देशद्रोही हो ! देश द्रोही !" विद्यापति का मुख आशंका से भर उठा। "हाँ ! देशद्रोही हो। तुम्हारे गीतों से जनता तड़प उठी है। जन-गण तुम्हारे गीतों का दीवाना है। तुम्हारी गीत-लहरियों के उतार-चढ़ाव में लोग अपना काम भूल गये हैं। श्रम की हानि हो रही है। श्रम की उपेक्षा से उत्पादन कम हो रहा है और इससे राजकोष में कर कम आ रहा है। मिथिला अपना आर्थिक विकास नहीं कर पा रही है। इसके अलावा एक अभियोग और है तुम पर।"

विद्यापति की आँखें जिज्ञासु हो उठीं, "क्या ?"

"तुम्हें राज दरबार में उपस्थित होने के लिए कहा गया था, पर तुमने राजाज्ञा की अवहेलना की। जानते हो राजा की अवहेलना का क्या परिणाम होता है ?"

"मृत्यु ।"

"तो क्या यही चाहते हो ?"

"हाँ। यदि किसी रूप-गरिमा के समक्ष मृत्यु भी मिले तो स्वीकार है।"

"बहुत वाचाल हो"— राजा ने कहा।

"विवश हूँ महाराज। मैं सदैव सुन्दरता का उपासक रहा हूँ। उसे पहचानता हूँ। उसे व्यक्त करने में मिथ्या श्रम नहीं लेता"—विद्यापति ने उत्तर दिया।

"तुम्हारी विवशता तो सब रक्खी रह जायेगी, जब जल्लाद का खड्ग तुम्हारी गर्दन पर होगा। सारी मिथिला को विद्रोही बनाना चाहते हो? अन्तिम क्षणों में भी उसी वाचालता का आश्रय लेकर बच जाओ, यह असम्भव है। हां! तुम्हें कुछ कहना है?"

"मैं क्या कहूँगा महाराज?" कह कर विद्यापति ने लखिमा देवी को निहारा, मानो वह कुछ खो गया है, कुछ पा-सा गया हो।

'तो तुम्हें दण्ड सुना ही दिया जावे?"

"हाँ।"

"तुम पर जो आरोप लगाये गये हैं, भयकर हैं। उनका तुमने प्रतिरोध नहीं किया। अतः स्पष्ट ही है कि तुम अपराधी हो और इसका दण्ड यही है कि तुम मिथिला छोड़ कर नहीं जा सकते। अब तुम मिथिला के राज-कवि हो, मिथिला तुम्हारी है।" कह कर राजा और रानी सिंहासन से उतरे। दोनों ने मिल कर विद्यापति की आरती उतारी और उसे राजकवि के आसन पर बिठा दिया।

विद्यापति सोच रहा था सरस्वती के उपासक का यह सम्मान स्वप्न है अथवा सत्य!

\+ \+

प्रकोष्ठ में बैठा विद्यापति कल्पना के पंखों पर उड़ रहा था। एक मनोरम सध्या थी। वागमती की चाल में वैसी ही मस्ती थी जैसी हवा की तरगों में होती है, जैसी बादलों की हल्की-हल्की उडान में होती है। लगता था जीवन भी इसी के साथ-साथ मथर गति से बह रहा था। जीवन के उत्थान-पतन को गाथाओं के स्वर तिरोहित करती वागमती की तरंगें स्वयं ही मस्त थी। तट पर कुहुकते विहंग संध्या के अरुण प्रकाश में जीवन के मनोरम पृष्ठों को एक-एक करके उलट रहे थे। वह गा रहा था, बेसुध-सा—

'नवल बसन्त, नवल मलयानिल, मातल नव अलिकूल'

गीत के स्वर क्षितिज के पार गूँज रहे थे । वागमती की लहरों से अठखेलियाँ करती शिवसिंह की नौका से गीत की लहरियाँ टकराईं । राजा और रानी गीत की कोमलता से उद्विग्न हो गये । नौका उसी ओर चल दी, जिधर से ध्वनि आ रही थी ।

वह अपने में खोया गाता जा रहा था, जब तक कि शिवसिंह ने आकर उसकी तन्द्रा भंग न की — "बहुत अच्छा गाते हो कवि ।"

कवि चौंका ।

"एक बार गा दो न कवि", अब स्वरों में कोकिला बोल रही थी ।

कवि ने एक बार शिवसिंह को देखा और एक बार रानी को । फिर गीत फूट पड़ा —

"नव वृन्दावन, नव तरुगन, नव नव विकसित फूल ।"

स्वर वायु में तैरते रहे । चेतन अवरुद्ध हो गए । गीत रुका ।

"कहाँ रहते हो कवि ?"

"निकट ही विसपी में ।"

"नाम ?"

"विद्यापति ।" कहकर विद्यापति उठा । उन्हें प्रणाम करके चल दिया । राजा और रानी देखते रह गये ।

घटनाओं का यह क्रम शीघ्रता से चल रहा था । रात को नींद न आई कवि को । वह विचारों में खोया रहा । शिवसिंह के अनुचर उसे लिवाने आ गये थे । पर कवि किसी का आश्रय क्यों स्वीकार करे ? वह तो स्वतन्त्र सिंह की भांति विचरण करना चाहता था । तो क्या उत्तर दूँ महाराज को ?

"कह देना महाराज से...कवि की अपनी दुनियाँ होती है । वह किसी दूसरे के संसार में क्यों रहे !" और इसके पश्चात् एक दिन शिवसिंह प्रच्छन्न वेश में उसे गिरफ्तार कर ले गया ।

यह सत्य है-जीवन परिवर्तनशील है, किन्तु कभी-कभी इतना परिवर्तन आता है कि विश्वास नहीं होता । स्वयं मनुष्य को छल आता है । इतना बड़ा परिवर्तन कवि के जीवन में हो सकता है ? हो सकता है नहीं,

हुआ है। कल तक मिथिला की गलियों में मारा-मारा फिरने वाला आज राज-कवि है।

प्रभात हो गया था। चिड़ियाँ चहक रही थी, पर विद्यापति की आँखों में नींद कहाँ।

\+ +

कहते हैं उस समय सूर्य और सूर्य की किरणों में आगे बढ़ने की होड़ लगी थी, किन्तु विद्यापति के गीत दोनों को पीछे छोड़ आगे बढ़ रहे थे। उसके गीत मिथिला जनपद के कण्ठहार थे। इसका श्रेय राजा को था या रानी को? लखिमा देवी स्वयं कवयित्री थी, भावुक थी, सरल थी। विद्यापति को स्वयं प्रेरणा बन जीवन के अध्याय बनाती। समय-चक्र चलता जा रहा था। एक दिन लखिमा ने अपने महल के झरोखे से देखा-कवि वाटिका में बैठा कुछ गा रहा था।

वह निहारती रही। फिर कवि की ओर चल दी। कवि ने उसे देख खड़े होते हुए कहा—"स्वागत हो महारानी।" "बैठो कवि," कह कर हरी-हरी दूब पर स्वयं बैठ गयी।

रानी ने कहा—"तुम ऐसे सुन्दर गीत कैसे लिख लेते हो कवि? कौन है वह जो तुम्हारे गीतों में कोयल बन बोलती है?"

"धृष्ठता क्षमा हो महारानी। यह प्रश्न पूर्णतः व्यक्तिगत है।"

"मेरे कवि का कुछ भी तो व्यक्तिगत नहीं मुझसे।" रानी के स्वर में आग्रह और अपनाव था।

"तो सुनो," विद्यापति ने कहना आरम्भ किया, "बचपन के दिन सुनहरे होते हैं न?"

"हाँ।" रानी ने कहा।

उन्हीं सुनहरे दिनों की बात है: एक बाला मुझसे बेहद प्यार करती थी। घरौंदे बना कर हम खेलते, बागमती हमारा साथ देती। इस तरह हमें यह भी ज्ञात न हो सका कि बचपन को लाँघ कर, यौवन के द्वार पर आ खड़े हुए हैं। यहीं से—साह के साथ जमाना भी कसमें खाने लगा। कल के हम साथी मिल भी नहीं सकते थे।

"इसी बीच एक दिन उनके विवाह के बारे में सुना," कवि कुछ रुक कर फिर कहने लगा, "इसके पश्चात् यह भी ज्ञात हुआ कि किसी कारण से उसकी मृत्यु हो गई है।" कवि ने देखा—लखिमा की पलकें भीग रही थीं। उसने आगे कहा—"मुझे ऐसा अनुभव होता है, वह यहीं कहीं निकट आती है। उसे मैंने कई बार देखा है।"

"कौन है वह ?" रानी जिज्ञासु हो उठी।

"तुम हो महारानी"—कवि एक झोंक में कह गया।

लखिमा का मन वश में न रहा।

वायु में अब भी मस्ती थी। सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी। आकाश की लालिमा, कालिमा में बदल रही थी। तारे चमक रहे थे। विद्यापति अब दर-दर ठोकरें खाने वाला नहीं रह कर एक राज-कवि ही नहीं, बल्कि राजा शिवसिंह का मित्र एवं घनिष्ठ सम्बन्धी था।

शिवसिंह सोचता— मिथिला धन्य है जिसे ऐसा कवि मिला जिसमें चेतना है, जिसके गीत जीवन की गति को पहचानते हैं।

लखिमा विचारती—मिथिला गौरवशालिनी है, उसे ऐसा कवि मिला, जिसमें कसक है, टीस है, रुदन है और उल्लास है।

विद्यापति की भावुकता कहती—वह उनका है। वे उसके आश्रयदाता है, वह उनके परिवार का अंग है।

इसी तरह लखिमा एकान्त में कवि से गीत सुना करती। और समय यों ही फिसलता जा रहा था। लखिमा जब एकान्त में होती तो अनुभव करती कि कुछ खो-सा गया है। परन्तु विद्यापति के साथ होती तो अनुभव करती, कुछ पा-सा गया है।

यह खोने और पाने का क्रम कई दिनों तक चलता रहा। राजा से यह बात छिपी न रह सकी। एक दिन रानी से उन्होंने कहा—"रानी, तुम्हारा झुकाव कवि की ओर हो गया है जो स्वाभाविक है। परन्तु एक बात मैं कहना चाहता हूँ।"

रानी के डर से कान तक लाल हो गये। रानी ने नतमस्तक होकर कहा—"क्या ?"

\+ +

शतरंज का खेल और राजनीति का खेल एक दूसरे के पर्याय हैं। पता नहीं राजनीति का पासा कब पलट जावे। इसी राजा शिवसिंह के राज्य में अकाल पड़ने के कारण कर न चुकाने पर दिल्ली के सुल्तान ने उसे कैद कर लिया। लखिमा का सर्वस्व लुट गया। उसकी दुनियाँ में अन्धेरा ही अन्धेरा हो गया। लखिमा के मन मे प्रकाश की किरण फूटी। क्या विद्यापति अपने मित्र को कैद से नहीं छुडा सकते ? परन्तु वह उनके पास जाये किस मुँह से ? क्या वह दिल्ली जायेंगे ? नही नहीं। पर उसके अन्तर का तार कहीं झनकता रह गया था। वह अवश्य दिल्ली जावेंगे।

आखिर लखिमा कवि के पास गयी और उसने कहा—"तुम्हारे मित्र दिल्ली सुलतान की कैद मे हैं, उन्हें छुड़ा कर लाओ।"

आँसुओं का बाँध टूट पड़ा। विद्यापति के नेत्र सजल हो गये, बोले—"रानी! मुझसे तुम्हारा दर्द सहन नहीं होता। मैं दिल्ली जाऊँगा।"

रानी विद्यापति के चरणों मे लेट रही थी।

"मैं जानना चाहता हूँ कि शिवसिंह ने ऐसा क्या कसूर किया जो आप उन्हें कैद मे डाले हैं,"— विद्यापति, सुलतान गयासुद्दीन से कह रहा था।

"तो तुम उसे छुड़ाने आये हो ?" सुलतान ने कहा—'यह तुम गलत कहते हो कि राजा शिवसिंह कैद में है। वह कैद के अलावा जहाँ भी है, मजे मे है।"

"गलत, एक दम गलत, तीन दिन से भोजन भी नहीं दिया गया है। वह अस्वस्थ हैं। उनकी आपने चिकित्सा तक नहीं की।"

"तुम्हें कैसे मालूम ?" सुलतान के मुख पर आश्चर्य एवं क्रोध झलक रहा था।

"मैं अनदेखा देखता हूँ शाहजहाँ, जिस अनदेखे को देखता हूँ उसे उसी तरह बयान भी कर देता हूँ।" विद्यापति ने कहा।

"देखता हूँ तुम अनदेखे को कहाँ तक बयान करते हो। अगर तुम बयान न कर पाये तो ?"

है फिर चाहे कुछ भी हो । क्या मर्यादा का कुछ मोल नहीं ? नहीं । प्रेमी पागल होता है । प्रेमी से मिलने के लिए वह सागर की चंचल लहरों को नापता है । पर्वतों की ऊँचाइयों को नापता है, तो फिर यह तो केवल मर्यादा की बात है ।

रानी अनुरक्त हो उठी । सन्ध्या के झुटपुटे में उसके पग कवि के शयन की ओर बढ़ गए । कवि अन्धकार में गुमसुम बैठा था । लखिमा का साहस न हो सका कि वह अन्दर आये । आहट पा कवि बाहर आया ।

"लखिमा देवी ! आप ?" कवि बोला ।

"हाँ कवि,"— रानी ने कहा ।

"कैसे आना हुआ ?"

"मेरा मन मेरे वश में नहीं है कवि । तुम मेरे हो, मैं तुम्हारी हूँ कवि ।" कह कर उसने कवि को बांहों में समेट लिया ।

गर्म श्वांस से कक्ष भर उठा । तारे हँसने लगे, चांद मुस्करा उठा ।

कवि का माथा ठनका । उसे अपने से दूर करते हुए बोला—"जीवन में मर्यादा का भी कुछ मोल होता है, रानी ! मुझे पाप-गर्त में मत डुबोओ । भूल जाओ विद्यापति तुम्हारा था । तुमने मुझे कर्तव्य की ओर अग्रसर कर दिया है । जाओ । रानी, अब तुम जाओ ।"

"नहीं कवि । मैं नहीं जाऊँगी । तुम चाहते हो मैं फूट-फूट कर रोऊँ, तड़प-तड़प कर मर जाऊँ, लेकिन मैं तुम्हें छोड़ कर नहीं जा सकती, कवि ।"

"पर जिसे तुमने राह बताई है वह तो जा सकता है ।"

लखिमा के आंसू प्रेमवश उबल पड़े—"तुम कृतघ्न हो कवि । तुम अभी मिथिला से बाहर हो जाओ । मेरी आंखों से दूर हो जाओ । तुममें हृदय नहीं, पत्थर है ।"

विद्यापति महलों से निकल ग्रामों की पगडण्डी हो लिया । चन्द्रमा के प्रकाश में कुछ दूर तक उसकी पीठ चमकती रही और फिर उसकी धूमिल अन्धकार के गर्त में समा गयी । रानी फटी-फटी आँखों से सब देखती रही ।

\+ +

शतरंज का खेल और राजनीति का खेल एक दूसरे के पर्याय हैं। पता नहीं राजनीति का पासा कब पलट जावे। इसी राजा शिवसिंह के राज्य में अकाल पड़ने के कारण कर न चुकाने पर दिल्ली के सुल्तान ने उसे कैद कर लिया। लखिमा का सर्वस्व लुट गया। उनकी दुनियां में अन्धेरा ही अन्धेरा हो गया। लखिमा के मन में प्रकाश की किरण फूटी। क्या विद्यापति अपने मित्र को कैद से नहीं छुड़ा सकते? परन्तु वह उनके पास जाये किस मुँह से? क्या वह दिल्ली जायेंगे? नहीं नहीं। पर उसके अन्तर का तार कहीं झनकता रह गया था। वह अवश्य दिल्ली जायेंगे।

आखिर लखिमा कवि के पास गयी और उसने कहा—"तुम्हारे मित्र दिल्ली सुलतान की कैद में हैं, उन्हें छुड़ा कर लाओ।"

आँसुओं का बाँध टूट पड़ा। विद्यापति के नेत्र सजल हो गये, बोले—"रानी! मुझसे तुम्हारा दर्द सहन नहीं होता। मैं दिल्ली जाऊँगा।"

रानी विद्यापति के चरणों में लेट रही थी।

"मैं जानना चाहता हूँ कि शिवसिंह ने ऐसा क्या कसूर किया जो आप उन्हें कैद में डाले हैं,"— विद्यापति, सुलतान गयासुद्दीन से कह रहा था।

"तो तुम उसे छुड़ाने आये हो?" सुलतान ने कहा—"यह तुम गलत कहते हो कि राजा शिवसिंह कैद में हैं। वह कैद के अलावा जहाँ भी है, मजे में हैं।"

"गलत, एक दम गलत, तीन दिन से भोजन भी नहीं दिया गया है। वह अस्वस्थ हैं। उनकी आपने चिकित्सा तक नहीं की।"

"तुम्हें कैसे मालूम?" सुलतान के मुख पर आश्चर्य एवं क्रोध झलक रहा था।

"मैं अनदेखा देखता हूँ शाहजहाँ, जिस अनदेखे को देखता हूँ उसे उसी तरह बयान भी कर देता हूँ।" विद्यापति ने कहा।

"देखता हूँ तुम अनदेखे को कहाँ तक बयान करते हो। अगर तुम बयान न कर पाये तो?"

"मेरा सिर हुजूर की तलवार की धार पर होगा। पर अगर कर दिया तो ?"

"मिथिला का राजा कैद से रिहा कर दिया जायगा।"

शर्त तय हो गई थी। सुलतान उसे अन्त:पुर में ले गया। वह एक प्रकोष्ठ में बैठ गया। बोला—दीवार के पीछे का वर्णन करो।

कवि गाने लगा—

कामिनी करई सनाने।

हेरतई हृदय सनई पचवाने।।

गीत चलता रहा। भाव तैरते रहे। परदे के पीछे के चित्र सुलतान के नेत्र-पटल पर उभरते रहे। सुलतान झूम रहा था। गीत रुका। दीवार के सामने का दरवाजा खुला। एक युवती स्नान कर रही थी, उसकी सुन्दरता का वर्णन पूर्ण हो चुका था। सुलतान आश्चर्य-चकित हो देख रहा था।

"अब जाओ," सुलतान बोला।

मिथिला को अपना राजा मिल गया और लखिमा को अपना पति मिल गया।

शिवसिंह और लखिमा विसपी पहुँचे। कवि मन्दिर में आराधना में मस्त था। आत्म विस्मृत हो वह गा रहा था—

नव वृन्दावन नव नव तरुगन, नव नव विकसित फूल।

नवल वसंत, नवल मलयानिल, मातल नव अलि कूल।।

रानी और राजा आत्मविभोर हो उसे देखते रहे। जब कवि उठा तो दोनों उसके चरणों में गिर पड़े।

तीनों के नेत्रों से जितना जल बह रहा था, उसी ने अगली पिछली सारी व्यथा को धो दिया।

+ +

शिवसिंह की मृत्यु हो गई थी। पति की मृत्यु से लखिमा संतप्त हो उठी। समय ने उस घाव को भर दिया। अपने जीवन-सूत्र को वह अपने

हाथों चलाने लगी। कुछ समय पश्चात् अचानक ही विद्यापति की मृत्यु के समाचार ने उसे आहत कर दिया। कवि की समाधि पर वह सिर पटक-पटक कर रोने लगी। इतनी रोई कि बागमती में बाढ़ आ गयी, इतनी रोई कि सागर में ज्वार आ गया।

आज भी विद्यापति की समाधि पर मन्दिर बना है। बागमती अपनी लहरों से प्रतिदिन समाधि की सीढ़ियों को धोती है। ब्राह्म वेला में जब ऊषा घूंघट के पट खोलती है, तो कवि का गीत आज भी सुनाई देता है—

"नव वृन्दावन, नव नव तरुगन, नव नव विकसित फूल
नवल वसन्त, नवल मलयानिल, मातल नव अलि कूल।"

फिर रानी का विलाप, हृदय-विदारक ध्वनि आकाश में गूँज उठती है जो प्रातःकाल दूर तक गूँजते घड़ियालों के स्वरों में विलीन हो जाती है।

———

लाल रेखा

सत्य शकुन

●

रेखा दरवाजे पर खड़ी लाल का इन्तजार कर रही थी। उसका विवाह हुये अभी दो महीने ही हुए थे। लाल उसका पति था, एक प्राइवेट फर्म में क्लर्क की नौकरी करता था। आज उसका जन्म दिन था, सो, जाते समय वह रेखा को कह गया था कि उसके कुछ मित्र आयेंगे इसलिए उचित प्रबन्ध रखे। उसने

कहे अनुसार अपनी पड़ोसिन सीमा की मदद से सारा इन्तजाम कर रखा था। अब उसी की बाट जोहती वह खड़ी थी। इतने में दूर गली में आठ-दस साइकिलें आती दिखाई दीं। उसने लाल को पहचान लिया। थोड़ी ही देर में वह और उसके मित्र अन्दर आ गये। वह मित्रों को बैठक में बिठाकर अन्दर आया और रेखा से पूछा—"क्या-क्या तैयार किया है ?"

"जो कुछ आपने कहा था", उसने मुस्करा कर उत्तर दिया।

"अच्छा, तुम नई साड़ी पहन लो, शायद हमारे सहायक मैनेजर भी आयें।"

"तो मैं क्या करूँगी ? तुम्हें नमकीन मिठाइयाँ पकड़वा दूँगी, तुम दे देना।"

"क्या शताब्दियों पहले की बातें करती हो ! अब दुनियाँ बदल गई है। समाज में जीना सीखो। तुम नहीं जानतीं बड़े आदमियों का दिमाग और ही होता है। यदि नाराज हो जायें तो नौकरी से छुट्टी और यदि प्रसन्न हो जायें तो पदोन्नति। तुम मिठाइयाँ आदि स्वयं लेकर आना।"

"मुझे शर्म आती है, कहीं इस तरह पर पुरुषों के सामने जाया जाता है क्या ?"

"बेकार की बातें मत करो।"

इतने में बाहर कार के हॉर्न की आवाज आई।

"तुम्हारी जैसी इच्छा वैसे करो।" और वह क्रोध में बाहर निकल गया।

रेखा सोचती है-मनुष्य भी क्या है ! अपनी पदोन्नति के लिये अपनी स्त्री का प्रदर्शन करना कहाँ तक उचित है ! दो महीने में ही रेखा अपने पति का स्वभाव जान गई थी। लाल यह चाहता था कि वह बड़े-बड़े अफसरों से मिले, हँसे-बोले, आधुनिक रमणी की तरह किल्लोल करे। किन्तु वह यह सब पसंद नहीं करती थी। वह जिस वातावरण में पली थी, उसी में जीना चाहती थी। पर लाल की इच्छानुसार उसे झुकना ही पड़ता था।

उसने साड़ी पहनी, बाल बनाये, फिर शीशे के सामने कुछ देर अपनी प्रतिच्छाया को निहारती रही। अतुल सौंदर्य, रूप-राशि का भण्डार। काश ! इतना सौंदर्य न होता तो उसका पति उसे अपनी पदोन्नति का सहारा तो न

बनाता। कोई भी चरित्रवान स्त्री अपने रूप-राशि भोगने का सम्बल पति के सिवाय और किसी को नहीं बनाती। खैर, उसने विचारों को छिन्न-भिन्न किया, मिठाइयाँ आदि उठाकर नौकर के हाथ में चाय की ट्रे देकर वह साड़ी के पल्लू से जरा सा घूँघट बनाकर बैठक में आई। मिठाई रख कर वह चली गई। वह सब हँस-हँस कर खान-पान में व्यस्त हो गये। मैनेजर हँसता हुआ बोला—"भाई लाल, तुम्हारी स्त्री पुराने विचारों की है। किन्तु जितनी भी झलक देखी है, वास्तव में है अद्वितीय–अपूर्व। तुम बहुत भाग्यवान हो जो तुमने ऐसा हीरा पाया है।" फिर हँसी-खुशी में दो-तीन घन्टे बीत गये, फिर एक-एक करके वह सब विदा हो गये। रात को सोते समय रेखा ने कहा, "सुनिये, मुझे यह पसंद नहीं है कि मैं लोगों के सामने जाऊँ।"

"रेखा तुम हमेशा मूर्खों की सी बातें करती हो। दो मिनट में तुम्हें क्या होता है ? जैसा देश वैसा भेष होना ही चाहिये।"

"मुझे पसंद नहीं है।"

"खैर छोड़ो भी", उसने उसको बाहों में भर लिया।

फिर दिन पर दिन बीतते गये। एक दिन लाल ने सुबह जाते समय रेखा से कहा, "शाम को तैयार रहना, मैनेजर साहब के यहाँ पार्टी पर जाना है।"

वह बगैर उत्तर सुने साईकिल उठाकर बाहर निकल गया। शाम को जब काम पर से आया तो रेखा को तैयार पाया। हल्के गुलाबी परिधान में उसका गोरा दमकता चेहरा, लम्बी नासिका, दोनों भौंहों के मध्य सुन्दर सी एक बिन्दी। वस्तुतः सौंदर्य समाज्ञी लग रही थी वह। दोनों बाहर आये और टैक्सी से मैनेजर के बंगले पर पहुँच गये। यहाँ सारी तैयारियाँ पूर्ण थीं। लाल भी रेखा के साथ जाकर एक तरफ बैठ गया। मैनेजर उन्हें स्वयं बिठा कर चला गया। रेखा शर्म से गड़ी जा रही थी। जिसे भी देखो वह उसे ही घूर रहा था। यूँ लग रहा था मानो निगल ही जायेंगे। वह उन औरतों की ओर विशेष रूप से विस्मय से देख रही थी। उसे बहुत हैरानी हो रही थी। इस आधु-
[illegible] मानव को कितने नीचे स्तर तक पहुँचा दिया है। आधुनिक
[illegible] पर थिरक रही थीं। ऊँचे स्कर्ट जिनसे कि उनकी पिंडलियाँ
[illegible] प्रकार जिन स्त्रियों ने साड़ियाँ पहन रखी थीं, इतनी
[illegible] लपेट रखी थीं कि नितम्बों का उभार साफ झलक रहा

था। उसी साड़ी के रंग से मिलते रंग के ब्लाउज के गले का कटाव इतने नीचे तक था कि आधे उरोज साफ झलक रहे थे। अपने अंगों का जितना अधिक प्रदर्शन कर सकते हो आज का समाज उसे सभ्यता कहता है। स्त्रियों में शील आजकल रह ही कहां गया है। इतने में मैनेजर आ गया, "अरे मिस्टर लाल, तुम अभी तक यहीं बैठे हो"? फिर वह लाल और रेखा को लेकर एक विशेष कमरे आ में गया। यहाँ सभी उच्चपदाधिकारी तथा उनकी पत्नियां बैठी थीं। लाल को उनके साथ बैठने में एक विशेष प्रकार का आनन्द और गर्व महसूस हुआ। खाना-पीना चला और बाद में मदिरा का दौर भी। लाल ने तो निःसकोच से ले लिया किन्तु रेखा ने कहा,'मैं नहीं पीती।' किन्तु लाल ने जब उसकी तरफ क्रोध से देखा तो वह सहम गई, सकोच से उसने ले लिया। एक बार उसने और औरतों की तरफ देखा—वे निःसकोच प्याले से प्याला टकरा कर पी रही थीं। उसने भी प्याला साहस करके मुँह पर लगाया और एक ही घूँट में हलक में उतार लिया। यूँ लगा मानो गला जल गया हो। आँखों में उसके अश्रुकण झलक पड़े। फिर दूसरा प्याला भी भरा गया और वह भी उसने खाली कर दिया। धीरे-धीरे उस पर खुमार छाने लगी। पलकें बोझिल होने लगीं। अब शर्म सब समाप्त हो गई थी। वह भी बात-बात पर अट्टहास करने लगी। मैनेजर भी अन्य लोगों के साथ बातें करने में था। थोड़ी देर में वह लाल के पास आया। "आइये मिस्टर लाल, आपको विदेश से लाई कुछ चीजें दिखाऊँ।" वह उस समय मिस रोजी से बात कर रहा था। 'जाओ रेखा तुम देख, आओ।' मैनेजर ने बेझिझक रेखा का हाथ पकड़ लिया। 'चलिये'-और वह न जाने किस भावना के वशीभूत होकर, खड़ी होकर मनेजर के हाथों में हाथ दिये चल पड़ी। एक कमरे में लाकर मैनेजर ने अन्दर प्रवेश करके दरवाजा अन्दर से भेड़ दिया। फिर चीजें उसने रेखा को दिखाईं-"यह पर्स मैं पेरिस से लाया था" - मैनेजर बोला।

"ओह कितना सुन्दर है", उसने खुमार भरी मादक नजरों से मैनेजर की ओर निहार कर कहा।

"आप ले लीजिये।"

"सच ?"

"जी हां।"

"ओह, आप कितने अच्छे हैं !"

"तुम कितनी सुन्दर हो !" और उसने उसे बाँहों में भर लिया। उसके 'न न' के बावजूद उसने उसके अधरों का चुंबन ले ही लिया। काफी देर बाद वह अस्त-व्यस्त कपड़ों को ठीक करके बाहर निकली। फिर लाल के साथ घर आ गई। दूसरे दिन लाल को मैनेजर ने खुशखबरी दी कि उसकी पदोन्नति सुपरिंटेंडेंट के पद पर कर दी गई है। वह प्रसन्न हुआ। घर आकर उसने रेखा को यह खुशखबरी सुनाई। उसने कुछ नहीं कहा। केवल उसके नेत्रों से दो बूँद पानी गिर पड़ा। उसके बाद तो वह अक्सर लाल की अनुपस्थिति में भी इधर-उधर जाती, कभी किसी की पार्टी में,तो कभी किसी की पार्टी में। अब वह पहले जैसी सावधानी लाल की सेवा में नहीं रखती थी। अक्सर अब वह रात को शराब के नशे में आती। लाल के साथ रोज झगड़ा होता। एक दिन लाल ने गुस्से में आकर एक जोर का थप्पड़ रेखा को मार दिया। वह गुस्से में बोली, "आपने मुझे मारा ?"

"हाँ, मार दिया तो क्या ?"

"आपको क्या अधिकार है ?"

"तुम क्या मेरी पत्नी नहीं हो ?"

"मुझ से अच्छा यह तो आप जानते हैं !"

उसने गर्दन झुका ली। वह क्या कहता। किन्तु फिर भी उसने गुस्से में कहा, "मैंने यह तो नहीं कहा कि तुम रात-रात इधर-उधर रहा करो। तुम आज से बाहर नहीं जाओगी।"

"अब यह नहीं हो सकता। अब मैं जिस रास्ते पर जा चुकी हूँ, उससे वापस नहीं लौट सकती।"

लाल को गुस्सा आ गया। उसने अनगिनत थप्पड़ उसे मारे और फिर बाहर निकल गया। काफी देर बाद जब उसका क्रोध शांत हुआ तो वह वापस आया। घर के अन्दर रेखा कहीं भी नजर नहीं आई। मेज पर एक कागज पड़ा था। उसने खोल कर देखा। उसमें लिखा था "मैं जा रही हूँ।" वह स्तब्ध रह गया। उसे मालूम नहीं था कि बात यहाँ तक पहुँच जायेगी। दो-तीन दिन उसने इन्तजार किया, पर वह वापस

नहीं थई। इधर-उधर पूछा। दोस्तों से पता चला कि वह मैनेजर के घर है और उसने अदालत में तलाक के लिये प्रार्थना पत्र दे दिया है। वह दफ़्तर से जल्दी ही घर की ओर चल पड़ा। मस्तिष्क उसका विकृत हो गया। उफ, *स्त्री भी छलना होती है। किन्तु फिर सोचा, यह उसकी स्वय की गलती थी।* उसने इस रास्ते के लिए जानबूझ कर विवश किया। उसके सतीत्व के एवज मे पदोन्नति पाई। फिर वह स्वय ही बडबडाया-"रेखा मैं तुम्हारे बिना नही रह सकता, मुझे माफ करो।" इतने मे पीछे से कार का हॉर्न सुनाई दिया। उधर मे एक ट्रक आ रहा था। वह घबरा गया उसकी साइकिल ट्रक की चपेट मे आ गई। सर उसका फट गया। उसका वही प्राणान्त हो गया। सडक पर एक खून की लाल रेखा अभी तक चमक रही थी।

मंदिर की लाज

रघुनाथसिंह शेखावत

●

रात्रि की सुहावनी बेला, निशापति गगन की ओर बढ़ रहा था, द्वारपाल दरवाजे पर खड़ा था, राजपूती केसरिया ध्वज महलों पर वायु की तेज गति में फहर रहा था। छापोली का राजा सुजानसिंह रंग-महल में अपनी रानी के संग शयन कर रहा था, कंगण-डोरे अभी बँधे थे। पहली रात, पहला

मिलन, राणी का घूँघट खोला ही था कि युद्ध का डंका बजा, डंके की आवाज महलों में गूँज उठी, घोड़ें की हिनहिनाहट सुजान के कानों में जा पड़ी। महलों में लटकी नागिन सी तलवारें दुश्मन की नसों में विष उगलने नाच उठीं। प्रेम की इस रंगीन घड़ी में सुजान की भुजाएँ फड़क उठीं, शृंगार वीर-रस में बदल गया, ममता को छोड़ कर्तव्य की ओर सुजान का मन दौड़ गया। मुख से निकल पड़ा, "राणी, क्षत्रिय कुल में जन्म लेकर आराम कहाँ? क्षत्रिय को तो तलवार की धार पर जीवन बिताना है। युद्ध का डंका बज रहा है, इस समय इस हड्डी-मांस के ढांचे से प्रेम करना क्षात्र-धर्म को कलंकित करना है। सुना है बहादुरखां के सेनापतित्व में बादशाही फौज सण्डेला के देव-मन्दिरों को नष्ट करने आ रही है, मेरे बुजुर्गों का खून मुझे रणक्षेत्र में जाने को ललकार रहा है। राणी, दुखी मत होना। मैं धर्म की रक्षा हेतु मर-मिटने जा रहा हूँ, धर्म को नष्ट करने काल भी उतर आयेगा तो हटूँगा नहीं, डटा रहूँगा; राणी, शोकाकुल मत होना। मैं दुश्मन से लोहा लेने जा रहा हूँ, तुम वीर क्षत्राणी हो, कुल की लाज व बान तुमसे छिपी नहीं, बोलो! क्या कहना है?"

पति के ये शब्द सुनकर राणी को अपार हर्ष हुआ और बोली—"पतिदेव, मेरा सौभाग्य है कि आप जैसे वीर-पति मुझे मिले, मैंने हथलेवे के समय ही जान लिया था आप किसी कीमत पर भी चूड़े की लाज नहीं जाने देंगे। आप निःसकोच रण में जाइये और अरि की छाती से भिड़ जाइये। मेरे बहादुर पति, मेरी तरफ से किसी प्रकार का संदेह मत कीजिये। देवी भवानी की कृपा से रण में आपकी विजय होगी, अगर आप रण में काम आये तो यह दासी आपका स्वर्ग में स्वागत करेगी।"

राणी के वचन सुनकर सुजान फूला न समाया, प्यार का चुम्बन किया। बख्तरबंद शरीर पर कसे, भुजदंड में तलवार को थाम टग्-टग् सीढ़ियाँ उतर गये। घोड़े की ... और पवन की तरह तेज गति से अश्व पर ... सुजान और चारों तरफ ... इन्द्र दिग्विजय करने ... बोला—"बहादुरो, ... विजय पाने आ रहा

है, मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदें बनाने के स्वप्न लेकर बादशाही सेन
के देव-मन्दिरों को नष्ट करने आ रही है। क्षत्रिय वीरो !
रायसालोत वंशीय एक भी बच्चा जीवित रहेगा, बादशाही फौज
देव मंदिरों को तोड़ नहीं सकती। जिसमें क्षत्रिय वंश का खून
आन व बान को जो समझना है, धर्म पर जो कुरबान होना जा
मेरे साथ रण-भूमि में चले, कायरों की भाँति जीना मुझे पसंद न
नहीं हो सकता कि एक तरफ बादशाही फौज देव-मंदिरों को लूटती
दूसरी ओर हम रंग-महलों में चैन से सोते रहें।"

इतना कहकर सुजानसिंह ने अपना घोड़ा रणभूमि की ओर ब

कायरता में वीरता के भाव भरने वाले शब्द सुनकर ह
अपने-अपने घोड़ों पर चढ़कर सुजान के सेनापतित्व में बैरी से
चला। घोड़ों की हिनहिनाहट से आकाश गूँज उठा, धरती काँप
अश्वों की टाप से आकाश धूलीमय बन गया। वीरों की तलवारें
का खून पीने नाच उठीं, वीरों की आँखें क्रोध से लाल हो रही थीं
भूमि में जाकर वीर सुजान ने दुश्मन से छाती अड़ा दी।

वीर सुजान ने बादशाही फौज को ललकार कर कहा—
रायसालोत का वंश जीवित है तब तक कोई दुश्मन देव-मन्दिरों
नहीं कर सकता, तुम्हारे अपवित्र कर इनको छू नहीं सकते।"

वीर की ओजस्वी वाणी सुनकर बहादुरखां का दिल दहल उठा
आशा वह देव मन्दिरों को नष्ट करने की लेकर आया था वह मिट्टी में मि
उसकी विजय के ख्वाब ढह गये। बहादुरखां ने सोचा, इन वीरों पर
पाना तलवारों की धार पर चलना है, इसलिये उसने सुजान के
संधि का प्रस्ताव रखा कि अगर देव-मन्दिरों के कलश उतार कर
जावें तो बादशाही फौज बिना युद्ध किये दिल्ली लौट जावेगी।
सुनते ही सुजान का मुख क्रोध से लाल हो गया, भृकुटियाँ तन
त्यौरियाँ बदल गईं। सुजान ने झट अपने सैनिकों को आज्ञा देकर
मन्दिर बनवाया और उस पर मिट्टी का कलश रख दिया और वह
ललकार कर बोला—"मलेच्छ ! देव मंदिरों के कलश तो बहुत
ने यह मिट्टी का कलश तो उतार कर ले लाओ। जब तक तन

है, तुम्हारे अपवित्र कर इसको भी नहीं छू सकते,'—कहकर वीर सुजान अरिदल में भिड़ पड़ा।

सनन..... सन. सन। भनन भन .... भन। तलवारों व कटारों की भीषण आवाज रणभूमि में छा गई। घमासान युद्ध शुरू हो गया। बादशाही फौज के सामने अंधकार छा गया। अरिदल के न जाने कितने मुण्ड रणभूमि में इधर-उधर बिखरने लगे, कितने ही कायर रणक्षेत्र से भाग पड़े, कितने हो बैरी काल के मुँह जा चुके। सुजान की तलवार ने न जाने कितने अरियों का खून पी डाला। गाजर-मूली की तरह अरिदल को काटता हुआ वीर सुजान आगे बढ़ता गया। 'हर हर महादेव' का नारा युद्ध में गूँज रहा था, केसरिया ध्वज अपनी शान लिये फहर रहा था। इस भीषण संग्राम में वीर सुजान ने अपूर्व बहादुरी दिखाई। वीर सुजान ने अरिदल को एक इंच भी आगे बढ़ने नहीं दिया। सेनापति बहादुरखां का विजय-स्वप्न भंग हो रहा था। भीषण मारकाट करता हुआ वीर सुजान आगे बढ़ता गया। अब वीर सुजान असंख्य अरियों के घेरे में आ गया। चारों ओर से लगातार प्रहार होते रहे, पर वीर अभिमन्यु की तरह सुजान अकेला लड़ता रहा। आखिर जब अरियों के प्रहारों से उसकी तलवार टूटकर गिर पड़ी, वीर सुजान धर्म की आन पर कुरबान हो गया।

शेखावाटी के रज-रज में और कण-कण से यही आवाज आने लगी-छापोली का राजा सुजान सिंह बलिदान हो गया अपने धर्म की आन और मन्दिरों की लाज पर।

एक भटकती घायल आत्मा

गुरुदत्त शर्मा

○

वह चली जा रही थी। पहुँचना चाहती थी क्षितिज के उस पार जहाँ वह मनुष्य का मुँह भी नहीं देख सके। ऐसी घृणा हो चुकी थी उसे मानव से। प्रौढ़ावस्था तक पहुँच चुकी थी पर अब भी मुख-मण्डल पर आभा थी। घोर वेदना थी उसके हृदय में, पर उसके बाहरी शरीर पर उसका अधिक प्रभाव

नहीं पड़ा था। अभी एक सप्ताह ही तो हुआ, उसके जीवन के आकाश पर व्यथा के ये घनेरे काले बादल छा गए थे ... .

गाँवों, कस्बों व नगरों से किनारा करके वह निकलने का प्रयत्न कर रही थी पर फिर भी लोग दिखते ही थे। कोई ललचाई हुई दृष्टि से देखता और निमत्रण के स्वर में कुछ कहने का प्रयत्न करता, कोई दया की दृष्टि से देखता और चला जाता। परन्तु उसको इन सब पर विचार करने की कहाँ फुरसत थी ? वह तो चली जा रही थी। अपनी इस गहन पीड़ा में डूबी, अपनी धुन में। कहीं पेड़ के नीचे सो जाती। फिर सवेरे उठ कर आगे चल देती। अब उसे बिल्कुल डर नहीं लगता था। या तो यह भाग्य की बात थी, अथवा कोई अदृश्य शक्ति अवश्य उसकी सहायता कर रही थी। अन्यथा कोई स्त्री ऐसे अकेली निकल जाय और दुर्घटना नहीं घटे कई दिनों तक—ऐसा आजकल कम ही होता है। परन्तु जिसकी रक्षा भगवान करता है उसका कौन बाल बाँका कर सकता है !

वह दिन-रात अपने विचारों में मग्न रह चलती रहती और सोचती रहती अपने बचपन के बारे में – कैसी नटखट थी, वाचाल थी, कितनी प्रिय-पात्र थी अपने माता-पिता की। कितनी सार-संभार करते थे अपनी इकलौती कन्या की वे। कितना ध्यान रखते थे उसका। कितनी जिद्द करती थी वह, पर उसकी माँगें लगभग पूरी होती थी। लड़कपन में साधन-सम्पन्न होने के कारण सभी सहेलियाँ किस प्रकार अपने नेता की तरह उसकी हर बात मानती थीं। जो चाहती थी वही होता था। स्कूल में कक्षा में सबसे उत्तम छात्रा होने के नाते सभी अध्यापिकायें कितने स्नेह से देखती थी।

और फिर हुआ जीवन के वसन्त – यौवन का आगमन। लोग किस प्रकार उसकी सुन्दरता को बखानते थे तथा विवाह के पश्चात् पतिदेव उसमें कितना प्रेम करते थे। किस प्रकार अपने आवश्यक कार्यों को छोड़कर भी बातचीत करने थोड़ी-थोड़ी देर में चले आते थे। ये सभी बातें उसके मन में बार-बार घूम रही थीं। कभी-कभी उसे वे बातें भी याद आती थी कि किस प्रकार सभा-सोसायटी या क्लब इत्यादि में अधिकतर आँखें इधर ही गड़ जाती थी तथा पतिदेव के प्रति मुझे पत्नी रूप में प्राप्त करने के कारण ईर्ष्या होती थी तथा

कटाक्ष भी हो जाते थे और पतिदेव हँसकर टाल देते थे। संतानें दो हो चुकी थीं। अब प्रेम बँट चुका था पर पत्नी-धर्म-पालन में तो दृढ़ता थी ही।

किन्तु समय को पलटा खाते देर नहीं लगती। सुख दुःख में बदल जाता है। पति को एक सस्ती बाजारू औरत से कुछ घनिष्ठता हो गई। उसके झूठे वायदों में वे फँस गये। सुरा रानी ने भी अपना प्रभुत्व जमाया और किस प्रकार वह छोटा-सा स्वर्ग नरक का रूप बन गया। पति का सप्ताह-सप्ताह तक घर से गायब रहना, एक-एक करके संतानों का मृत्यु की गोद में चला जाना। फिर तो पति ने घर आना ही बंद कर दिया। तब उस घर में रहा ही क्या? इधर माता-पिता चल ही चुके थे। चारों तरफ अँधेरा छा गया था। अहंकारी मन ऐसी परिस्थितियों में उन लोगों में रहने को तैयार नहीं हो सका जो अब तक उसकी इज्जत करते आए थे। आदर दया या नफरत में बदलने लगा था अथवा बदल चुका था। सभी लोगों की चल पड़ी थी और वे अपने भयानक इरादों को पूरा करने के प्रयत्न शुरू कर रहे थे। उसे मानव से और इस जीवन से घृणा हो चुकी थी। तब वह एक रात चुपचाप चल दी। मन में यही सोच रही थी कि यदि नहीं चली आती तो क्या करती? मनुष्य के रूप में छिपे हुए इन भेड़ियों से वह कब तक बचती?

निराशा की पराकाष्ठा हो चुकी थी। केवल एक ही विचार मन में रह रह कर आ रहा था कि किस प्रकार इस जीवन को समाप्त कर इन सभी दुःखों से निवृत्ति पा ली जाय। परन्तु आत्महत्या करना सरल नहीं। जन्म-जन्मान्तरों तक भोग-योनियों को भोगने के पश्चात् देहात्म की भावना इतनी दृढ़ हो जाती है कि उसे निकालना कोई आसान बात नहीं। देह से इतना मोह हो जाता है कि उसे मिटाया नहीं जा सकता। जिस देह से बचपन व लड़कपन में पिता के घर, जवानी में पति के घर सुख ही सुख देखा था, उस देह को सहज ही समाप्त किया जाना कठिन नहीं, असम्भव भी था। कभी-कभी हृदय के एक कोने से आशा की एक किरण भी फूट निकलती थी। शायद कुछ हो जाय और मेरे यह सभी कष्ट निवृत्त हो जायँ। पढ़ी लिखी हूँ। अपना कमाकर खा सकती हूँ, फिर किसी के सहारे ही क्यों रहूँ? क्यों नहीं अपने जीवन निर्वाह के लिये कोई कार्य कर लूँ! परन्तु शंका होती—मैं कार्य

कर सकूँगी भी या नही ? अथवा कार्य कभी नही किया, तब किस प्रकार, क्या करूँगी ? आदि ।

अन्त मे वह भटकती-भटकती गंगा के किनारे जा पहुँची। जाकर किनारे पर खडी हो गई । रात के तीन बजे थे । कूदना चाहती थी पर नही कूद सकी । फिर प्रयत्न किया और विचारों के द्वन्द्वों ने नही कूदने दिया । अन्त में सारी हिम्मत बटोर कर कूदने ही वाली थी कि एक आवाज आई - 'बेटी! अभी प्रारब्ध बाकी है । तेरे सभी प्रयास निष्फल रहेंगे ।' नही कूद सकी । डूबते को तिनके का सहारा मिल गया । यह एक कौपीनधारी महात्मा कह रहे थे, जो कुछ दूरी पर एक कमण्डल हाथ मे लिए खडे थे । वे कहते गये-'मनुष्य कर्म करने मे स्वतन्त्र है, परन्तु प्रारब्ध भोगने मे पराधीन है। उसने जिन प्रारब्धो से यह जन्म लिया है, वे उसे भोगने ही पडेंगे । बिटिया ! प्रारब्ध को खुशी से भोगो और आगे के लिये शुभ सकल्प रखो । शरीर नश्वर है, यह तो नाश होगा ही, पर जो संस्कार चेतन पर पड चुके हैं वे तो फल-दायी होंगे ही । यदि यह शरीर नष्ट हो गया तो फिर ये चेतन नया रूप धारण कर लेगा । फिर क्यो नही इसी से सब भोग भोग लिए जायें ?'

महात्मा चुप हो खड़े थे । उसके सारे शरीर मे बिजली दौड गई । बचपन मे माता-पिता के धार्मिक संस्कारों की छाप पड हुई थी । उनका नित्य का पूजा-भजन, आरती, स्तोत्र इत्यादि का पाठ, महात्माओं को आदर से प्रणाम कर बुला कर सत्कार करना, भोजन कराना व अन्य सेवा करना उसके मानस पटल की स्मृति पर जागृत हो उठे । महात्मा के प्रति आदर-भावों को इस स्मृति ने जागृत कर दिया और वह विवश होकर महात्मा के चरणों पर गिर पडी । बडे स्नेह से महात्मा ने उसे उठाया और एक पेड़ के पास ले जाकर लिटा दिया । वे अपने स्वय के कार्य से निवृत्त होकर जब आये तब तक उसके विचार ही बदल चुके थे । दु:ख की भावनायें विचारो मे परिवर्तित हो चुकी थी और विचार आ रहे थे—यह जीवन क्या है ? यह शरीर क्या है ? कर्म क्या है ? और क्या शरीर से परे भी कोई चेतन वस्तु है ? इत्यादि । कौन जाने यह परिवर्तन सम्भवतया स्वामीजी के दर्शन मात्र मे ही हो गया था । स्वामी जी ने इशारा किया और वह स्वामी जी के पीछे-पीछे मन्त्रमुग्ध-सी चल पड़ी ।

कुटी पर पहुँचने पर स्वामीजी ने अपनी पुत्री की तरह उसका स्वागत किया और बैठने के लिए आसन दिया । कहने लगे—'अब तुमको दुःखी होने की आवश्यकता नहीं । उचित समय आ गया है, अतः तुमको तपस्या में लग जाना चाहिए । अज्ञानी लोग जो देहात्म भाव का निश्चय धारण कर रखते है वह उनकी जन्म-जन्मातर की वासनाओं के कारण ही । वासनाओं से ही वासनाएँ उत्पन्न होती हैं । उनको तपस्या से दग्ध करना है । जिस प्रकार कच्चा बीज बार-बार उगता है परन्तु दग्ध हुआ बीज फिर नहीं उगता, उसी प्रकार तपस्या में दग्ध वासनाएँ फिर दुःख का कारण नहीं बन सकतीं । सुख-दुःख, पुरुष-स्त्री, पाप-पुण्य आदि द्वन्द्वों से तुम को पार जाना है, तभी आनन्दमय स्थिति को प्राप्त कर सकती हो । आनन्द तो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, परन्तु अज्ञान के कारण हम उसका अनुभव नही कर पाते । द्वन्द्वों से परे जाना मोक्ष है । मोक्ष के लिए ज्ञान और कर्म दोनों की आवश्यकता है । अब तुम्हारे अनुकूल समय आ चुका है । तुम साधना में लग जाओ और अपने संचित कर्मों को दग्ध कर दो ताकि वे फिर न उग सकें ।'

उसके हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो चका था । संसार में अब मोह नहीं रह गया था उसे । सुमार्ग पर ले जाने के हितार्थ उचित गुरु की प्राप्ति भी हो गई थी । अतः एकाग्र मन से वह साधना में जुट गई और ब्रह्मज्ञानी गुरु की देख-रेख में उसने कठिन तप शुरू कर दिया । समय आया, वासनाएँ दग्ध हुईं, अन्तर में उजाला हुआ । कई नये-नये प्रकार के अनुभव हुए और अन्त में एक ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेय, द्रष्टा, दर्शन,दृश्य, कर्ता, कारण, क्रिया में एकता का भान हुआ । अब उसे यह अनुभव हुआ कि यह जगत एक दीर्घ काल का स्वप्न है जो अहम्ता के कारण दृढ़ जागृत रूप हो दिखाई देता है । वास्तव में कुछ उपजा नहीं । परम चिदाकाश है, सर्वदा शांतिरूप है, अचित्य चिन्मात्र स्वरूप है । वही सब जगत है, सर्वशक्ति सर्वात्मा है, जहां जैसी विचारों में हलचल होती है, वैसा ही जगत दिखाई देता है ।

उसकी साधना पूर्ण हो चुकी थी । स्वामीजी उसे आशीर्वाद दे कर एक दिन कहीं बाहर चले गये । आदेशानुसार वह उसी कुटिया में रह रही थी । पुष्प के समान उस की सुगन्ध चारों ओर फैलने लगी । अब वह सभी सांसारिकों की तरह कार्य करती थी, परन्तु लिप्त नहीं थी । इसी अवस्था को

जीवन-मुक्त अवस्था भी कहते हैं। उनकी कुटिया आश्रम में परिवर्तित हो चुकी थी। उन्हें लोग 'माताजी' के नाम से पुकारने लगे थे। आश्रम में ही एक गुरुकुल की स्थापना हुई जहाँ बालकों के जीवन को उत्तम दिशा में मोड़ देने का कार्य सम्पन्न होता था और एक साधना-मंदिर की भी, जहाँ सभी स्त्री-पुरुष उनके सान्निध्य का लाभ प्राप्त कर साधना द्वारा अपने अहंकार को मार्जन करने का अभ्यास करते थे। उनका जीवन स्वयं ही एक जीवन्त उपदेश बन गया था।

एक भटकती हुई, घायल आत्मा स्वयं एक प्रकाश-स्तम्भ बन गई थी।

जलती बर्फ : सुलगती आहें

जी. बी. आजाद

●

नई-नई जगह को देखने के लिए नई उमंगें होती हैं। दो दिन इधर-उधर घूम चुकने के पश्चात् आज शाम गंगा-पार घूमने जाने का विचार किया। सभी बच्चे नौका-विहार के लिए चपल हो उठे। होटल से निकल कर जब घाट पर पहुँचे तो एक नाव सैलानियों को लेकर उस पार जाने के लिए खड़ी थी। रेखा और

बच्चों के साथ मैं भी उसमें जा बैठा। नाव चली और धीरे-धीरे उस पार जा लगी। किनारे पर उतर कर बड़ी देर तक हम सभी उद्यान में घूमते रहे। बच्चों ने खूब फूल तोड़े, जेबों में भरे, बुशर्ट में लगाये, मम्मी के जूड़े में लगाये। रेखा ने भी लाल और श्वेत पुष्पों को हरी पत्तियों में सजाकर एक दम मुझे दिया। कितना मोहक था वह! धीरे-धीरे नाव लौटने का समय हो गया और समय पर सभी लोग नाव पर जा बैठे। नाव कुछ दूर बढ़ी। किनारे पर जो मन्द बयार बह रही थी, वह तीव्र होने लगी और धीरे-धीरे विकराल हो गई। पानी की लहरें, सेना की उन टुकड़ियों की भाँति टिड्डी दल-सी आगे बढ़ रही थी, जिन्हें गंतव्य नहीं बताया जाता – बस चलने भर का आदेश दिया जाता है। नाव खेने वाले परेशान से दिखाई देने लगे। नाव हिलने-काँपने लगी और धीरे-धीरे उसने पतवारों का नियन्त्रण अस्वीकार कर दिया। सभी यात्री आशंका से सिहर उठे। अज्ञात आशंका से मैं भी काँप उठा। मैं चाहता था इस संकट में सभी अपना संतुलन बनाये रहें वरना नाव उलट न जाये। किन्तु कौन किसकी सुनता था? सभी चिल्ला रहे थे। मृत्यु का भय प्रत्येक चेहरे पर काली छाया-सा मँडरा रहा था। उधर नाव प्रति पल किन्हीं अज्ञात क्षणों की प्रतीक्षा कर रही थी। बच्चे चिल्ला-चिल्ला कर मुझसे चिपटे जा रहे थे। रेखा मेरे मुँह की ओर देख-देख कर बेबसी से रो रही थी। 'अब क्या होगा?' यही एक अज्ञात भय सभी ओर से दिखाई दे रहा था। मैं स्वयं काँप रहा था किन्तु फिर भी खंडित स्वर में कह रहा था, "रोओ नहीं, रोओ नहीं। तुम सब मुझे पकड़े रहना, देखो छोड़ना नहीं।" और तभी सहसा उस डगमगाती नाव ने पानी में करवट ली।

\+ \+ \+

झटके के साथ गाड़ी रुक गई। सामान रखने और उठाने की आवाज कानों में गूँजने लगी। हठात् पलकें खुल गईं। प्लेटफार्म पर दूसरी ओर एक नव-विवाहित युवा अपनी पत्नी के साथ दूसरी दिशा की ओर से आने वाली गाड़ी की प्रतीक्षा कर रहा था। विवाह के बाद जीवन का एक नया क्रम प्रारम्भ होता है। कितना मधुर और अविस्मरणीय जीवन था जब अनिद्य मुस्कराहट के साथ स्वागत करते हुए प्रतीक्षा में खड़ी रेखा कहती – 'आ गये', और तब मुझे एक असीम अलौकिक सुख की अनुभूति होती। हाथ की पुस्तकों

की एक मीठी सी थपकी उसके सिर पर लगा कर मैं कमरे की ओर बढ़ जाता। वह छाया की भाँति अनुसरण करती और पास ही कुर्सी प बैठ जाती।

"यह चिट्ठी दीदी की प्रयाग से आई है और यह है आपके मित्र छोटा का पत्र। और ये पत्रिकायें आप क्यों मँगवाते हैं, जब इन्हें खोल कर पढ़ने का अवकाश ही आपको नहीं?" पत्र पढ़ते हुए व्यस्तता के साथ ही मैं कहता– 'तुम नहीं समझतीं, यह बड़े काम की है' और वह शांत भाव से उठ कर नाश्ता लाने को चल देती। मैं चाय नहीं पीता, यह उसे अच्छा लगता है किन्तु वह सदैव आग्रह करती थी, "आपको दूध अवश्य पीना चाहिये–जाने क्यों आप नहीं पीते!" पत्रों को टेबिल पर रखते हुए मैं कहता, 'अच्छा जी, रहने दीजिये अपनी डाक्टरी को और यह बताइये कि आज कहाँ घूमने चलने का विचार है श्रीमतीजी का?' वह प्लेट उठाती हुई कहती, 'कहीं चलिये।'

माल रोड की वह संध्या कितनी मोहक होती थी।

गाड़ी की गति सहसा कम होती तो वैसे ही बढ़ भी जाती। बाहर मिट्टी के गुब्बार उठते और बेबसों की भाँति उठकर फिर समा जाते। सामने की बर्थ पर बैठे हुए यात्री परस्पर बातें कर रहे थे। उनमें से किसी ने कहा, "जी, शादी के दूसरे ही वर्ष यह बच्ची हुई थी।" मैंने पलकों को मूँद लिया। याद आया रेखा की भी शादी का दूसरा वर्ष समाप्त होते-होते नीरा का जन्म हुआ था। नीरा के आ जाने पर रेखा कभी-कभी कैसे मधुर उपालम्भ दिया करती थी—

"क्या है न जाने? नहीं नहीं करते भी आखिर आपने यह परेशानी दे ही दी न?" और हाथ से खटोले पर लिटाती नीरा को अनिर्वचनीय वात्सल्य मे घूरती। और तत्काल मदभरी सलज्ज दृष्टि से मेरी ओर देख मुस्करा उठती।

रेखा माँ बन गई थी किन्तु पत्नी पहिले थी। रेखा को मेरे साथ पहिले जितना स्नेह था, नीरा ने उसमें अब अपना हिस्सा ले लिया था। किन्तु रेखा ...ख-दुःख मेरे सुख-दुःख से भिन्न नहीं था। नीरा और घर के काम में अब ...दैव व्यस्त रहती। उसकी अविकल व्यस्तता मुझे खटकती, किन्तु चारा

ही गया था। ऐसे अवकाश के क्षणों में मैं व्यस्त रेखा को छेड़ते हुए जब कहता था, "आज रहने दो गृहकाज, प्राण रहने दो गृहकाज" तब वह कैसी मुस्कराती, लेकिन जब मैं काम छोड़ कर उठने की हठ करता, 'छोड़ो भी, यह क्या दिन भर कुछ न कुछ लगाये रहती हो' तो वह कहती, 'अरे भाई, आखिर यह काम भी मुझे ही करना है ;' उसके काम के विस्तार को देख मैं आकुल हो जाता और बर्तन मलती रेखा का बर्तन धोने में हाथ बँटाने लगता। वह कहती, 'अरे अरे, यह क्या ? यह भी कोई आपका काम है ? जाओ कुछ अपना काम करो ना।' लेकिन मैं बर्तन धोता रहता। घर के काम में हिस्सा लेकर रेखा के श्रम को कम करने में उस समय मुझे असीम आनन्द होता था। छुट्टी के दिन देर तक चौका उठाने पर जब शीघ्र काम समाप्त करने का मैं उससे आग्रह करता तो वह कहती, 'बस अभी आई, बरतन धो कर रख दूँ। बेबी को दूध पिला दूँ फिर बैठूँगी। हाँ ! शाम तक एक फाक आज सिलनी ही है, फिर बस एक साथ बैठूँगी।'

पल, घड़ी, प्रहर सप्ताह और मास वर्ष की परिधि बनाने लगे। सुख का समय ऐसे जल्दी बीतता है जैसे सर्दी का दिन। जीवन-वाटिका में अनजाने ही कब बसन्त आया, कब कलो खिली और फूल बन गई, कब फल उभर आये— पता ही नहीं चला। स्निग्ध स्नेह, आनन्द ही आनन्द की अनुभूति थी। आनन्द वे भूलते हैं जो आनन्द को इन्द्रिय और अतीन्द्रिय की दो सीमा में रेखा से बाँट कर एक को सूक्ष्म और एक को स्थूल बतलाकर आनन्द के घर में फूट डालना चाहते हैं। आनन्द अखण्ड है, उसे किसी रूप में ग्रहण कीजिये जहाँ आनन्द है वहाँ कलुष हो ही नहीं सकता। रेखा ने मेरे जीवन में आनन्द भर दिया। उस दिन पड़ोसिन कह रही थी—

'अब घर में कुछ रौनक लगती है। पाँच वर्ष पूर्व जब आये तो शुरू में ऐसा लगता था जैसे मकान खाली ही है। किन्तु खिलखिलाते, रोना-चीखना, हँसना, चिल्लाना, जब ये तीनों बच्चे बाहर निकल जाते हैं तो घर मनहूस हो जाता है। ये छोटा बड़ा पाजी है। हँसता है तो इस प्रकार कि जैसे नदी फूट पड़ी हो और रोता है तो ऐसे जैसे मानो किसी ने घाव कर दिया हो।'

उसका सहास्य यह कथन पत्नी की मुस्कराहट को भी हँसी में परिवर्तित कर देता।

मेल गाड़ी अपनी एक गति में चलती है उसे निश्चित समय पर अपने गन्तव्य पर पहुँचना है। छोटे स्टेशनों पर वह नहीं रुकती, उल्टे अधिक वेग से भागकर निकलती है जैसे विशिष्टता की ग्रन्थि उसके अहम् को ललकार कर कहती हो, 'कहाँ तुम मेल ट्रेन और कहाँ ये स्टेशन-वीराने, क्षुद्र।' और चिंघाड़ती हुई उन छोटे स्टेशनों से ऐसे भागकर निकल रही थी जैसे पिस्तौल से गोली।

यात्री परस्पर बातचीत कर रहे थे, 'अजी, पढ़ाई का अजीब हाल है। न बच्चे पढ़ते हैं, और न मास्टर पढ़ाते हैं। कुछ बच्चे तो होते ही ऐसे हैं मानो उनके कंठ में सरस्वती बैठी हो।' मेरे मन में इस संवाद ने पुरानी स्मृति को जागृत कर दिया जब एक दिन पिंकी को पीटते हुए मैंने रेखा से कहा—

'ये पढ़ते क्यों नहीं ? दिन भर खेलना, खाना इसके अलावा कोई काम नहीं ?' "लेकिन आप बच्चों को पीटते क्यों हैं ? बच्चों को क्या मार-पीट कर पढ़ना सिखाया जाता है ? हमारी फिलॉसफी की लेक्चरार कहा करती थी कि पीटने से बच्चे अपनी पढ़ाई के साथ उसका भावनात्मक संबंध स्थापित कर लेते हैं और उन्हें पढ़ाई का काम कष्टदायक लगता है, परन्तु आपको न जाने कैसा क्रोध आता है ! बाप रे ! इस कदर कोई बच्चों को पीटता है ?"

मैं प्रताड़ित दृष्टि से रेखा की ओर देखते हुए कहता — "इस फिलॉसफी में कुछ नहीं रखा है, ये सब बच्चे घूल हो जायेंगे।"

"ओफ ओ ! घूल हो जायेंगे — किससे घूल हो जायेंगे। अभी तो इन्होंने पढ़ना शुरू किया है, जब शौक लगेगा तब देखना आपसे आगे निकलेंगे ये।" यह कहते-कहते उसका मातृत्व उमड़ आता। उसने पिंकी को अपनी गोद में खींचते हुए कहा — अच्छे-अच्छे बच्चे ये नहीं जान पाते कि तीन आने या सात आने में कितने पैसे होते हैं ? लेकिन हमारा पिंकी सब चटपट बताता और वह पिंकी के मुख की ओर झुक कर कहती—'अच्छा भइया, बताओ भारत का सबसे बड़ा आदमी कौन है ?' पिंकी कहता,— "डॉ० जाकिरहुसैन।"— "शाबाश ! और बताओ दुनियाँ का सबसे बड़ा शहर कौन-सा है ?" पिंकी कहता, 'हिन्दुस्तान' — "नहीं मैं पूछती हूँ सबसे बड़ा शहर," पिंकी अपनी स्मृति पर ध्यान करते हुए कहता, 'शहर ? मैं बताऊँ, टोकियो।' और रेखा गर्व से

कहती, 'बहुत अच्छे।' पिंकी की स्मृति पर मैं किंचित् मुग्ध होता और छकाने को पूछ बैठता — 'अच्छा बताओ आठ में से सोलह गए तो कितने बचे ?' और पिंकी हँसता हुआ कहता, "कहीं आठ में से सोलह जाते है ! आप तो हमें बहकाते हैं ?" और मैं प्यार-भरी चपत उसके गालों पर अङ्कित कर देता।

विशाल प्लेटफार्म पर खड़ी गाड़ी लम्बी – लम्बी सीटियाँ दे रही थी। मानो कह रही थी - चलना हो तो चलो वरना मैं जाती हूँ; तुम्हारे चलने या न चलने की मुझे परवाह नहीं है। और तभी एक सज्जन उस डिब्बे में चढ़े। उन्हें विदा करने उनकी पत्नी और बच्चे भी आये थे। बच्चे कह रहे थे, "डैडी तीन पहिये वाली साइकिल जरूर लाना, भूलना नहीं" और गोद की बच्ची भी अपनी माँ के निर्देशन में हाथ हिला-हिला कर मानो कुछ लाने का संकेत कर रही हो। मेरा मन कराह उठा। नीरा, पिंकी, अन्नू, रेखा मेरी आँखों में थिरक उठी – अपने पिता को विदा देते ये बच्चे—

जब कभी बाहर जाना होता रेखा बिस्तर व अटेची यात्रा के लक्ष्य, समय और उपयोगिता की दृष्टि से स्थिर करती। सामान तैयार होता देख बच्चे समझ जाते मैं बाहर जा रहा हूँ। पिंकी और अन्नू बिस्तर पर चढ़ जाते- "हम भी चलेंगे, हमें भी ले चलो ना पापाजी, रेल में बैठेंगे ना ? नहीं नहीं, मम्मी हम भी जायेंगे।" और रेखा हंसती हुई कहती-"हाँ, हाँ, जाओ ना, अपनी अटेची तुम भी तैयार कर लो।" किन्तु तभी नीरा कहती, "पागल हो, तुम कहाँ जाओगे ? पापाजी तो मीटिंग में जा रहे हैं। बस, अपने लिए खिलौने मँगवा लो, मैंने तो अपने लिए घुँघरुओं की एक जोड़ी मँगवाई है।" और पिंकी-अन्नू भी समवेत स्वर में चिल्लाते, "पापाजी, हमें भी घुँघरू हमारे भी घुँघरू।" मैं बच्चों के मनोमुग्धकारी भोलेपन पर मोहित होकर कहता, "पगले, तुम घुँघरू का क्या करोगे ? जीजी तो लड़की है वह तो घुँघरू पहन कर नाचेगी, तुम क्या करोगे ?" यह सुनकर अन्नू कहता, "तो हमारे लिए एक बन्दर लाना" और पिंकी कहता, "मेरे लिए बिल्ली, नहीं, नहीं– मेरे लिए छोटा-सा एक बाजा लाना।" पिंकी की बात सुन अन्नू भी कहता, "हमारे लिए भी बाजा।"

जब लौटता रेखा कहती, "यह क्या करते हो ? कितना पैसा बच्चों के इन

खेल-खिलौनों और काफी चाकलेट पर खर्च करते हो। क्या लाभ है इन चीज़ों का ?" इनका कोई अन्त भी है ? मैं कहता "अरे बच्चे हैं, खुश होंगे।" रेखा कृत्रिम क्रोध प्रकट करती हुई कहती, "खुश होंगे ! इस कदर पैसा खर्च करते हो कुछ आगे का भी खयाल है ? लड़की है बच्चे हैं, इनका विवाह-पढ़ाई कुछ करना होगा या नहीं ?" और सचमुच मैं मन ही मन कुछ चिन्तित-सा हो उठता।

सिगरेट पीने वाले भी कुछ अजीब होते हैं – कहते हैं एकाकीपन नहीं रहता। कोई कहता है, 'कनसन्ट्रेशन' हो जाता है, कोई कहता है स्फूर्ति आती है। मैं कहता हूँ कुछ आता है या होता हो अथवा नहीं, इतना अवश्य है कि न पीने वालों के लिए वे एक सिर दर्द होते हैं क्योंकि मैं भी सिगरेट नहीं पीता। लेकिन आज की इस लम्बी अकेली यात्रा में मैं थका जा रहा था, मेरा अंग-प्रत्यंग पीड़ा का अनुभव कर रहा था और फिर अकेलापन ! कैसे जीवन कटेगा ! एक वह दिन था जब रेखा कहती थी—

"क्या बात है, आजकल घर में इतना अधिक क्यों रहने लगे हो ? क्या साथी लोग यहाँ नहीं हैं ?"

"हैं क्यों नहीं ! अभी जाता हूँ। लेकिन जाने क्यों आजकल तुम्हें और बच्चों को छोड़ने को जी नहीं करता। सदैव जी चाहता है सभी लोग साथ ही रहें।"

रेखा मुस्कराती हुई कहती, "इसे ही दार्शनिक माया-जाल कहते हैं। इन बच्चों से ऐसी ममता हो जाती है कि थोड़ा-सा भी इन्हें अभाव या कष्ट हो, अपने को बहुत खलता है।" "हूँ ! यह तो है ही, लेकिन रेखा, आजकल तुम्हारी ओर भी अधिक आकर्षण हो गया है।" रेखा कहती, "हटो जी, सदा झूठी चापलूसी की ही बातें करते हो। यह तो होता नहीं कि कुछ दिन बच्चों को अपने पास रख लो या इन्हें दादी के पास भेज दो। और मैं भैया के पास कुछ दिन रह आऊँ। बस सदा मेरे पीछे लगा देते हो इन्हें। और ये इतने शरीर हैं कि कहीं जाओ, चैन से नहीं रहने देते।" मैं सहानुभूति प्रकट करते हुये कहता, "नहीं रेखा, यह बात नहीं है। मैं तो स्वयं चाहता हूँ तुम्हें कुछ दिन घर के काम से छुट्टी मिले और तुम आराम कर सको – किन्तु तुम बच्चों को छोड़ कर रहने का जी नहीं होता। कहीं जायें सब साथ रहें, यही

जो भी अच्छा लगता है। रेखा अंगड़ाई लेती हुई कहती, 'तो अच्छा यही सही, सबको बार अब कहीं बाहर ही किसी अच्छी जगह घूमने चलें, छुट्टियाँ भी कट जायेंगी और बच्चों का मनोरंजन भी हो जायगा।'

छुट्टियाँ प्रारम्भ हुई, और साथ ही प्रस्तावित यात्रा भी। सभी बच्चों के साथ यात्रा पर जाना बड़ा अच्छा लग रहा था, उत्साह था, सभी प्रसन्न थे। लेकिन यात्रा का प्रारम्भ जाने किस मनहूस घड़ी में हुआ कि जिसने आज मुझे इस परिस्थिति में ला पटका—एकाकी बिल्कुल एकाकी। और मेरे सामने नाच या वह भयंकर दृश्य उभर आया।

मैं देखते-देखते पानी में उतराने-चढ़ने लगा। बेबी और रेखा कहाँ गईं पता नहीं, पिकी और अन्नू मुझ से तब भी चिपटे हुये थे। किन्तु लहरों के थपेड़े अत्यन्त निर्मम हो चुके थे— रोना चाहकर भी बच्चे रो नहीं पा रहे थे, उनकी आँख, कान और मुँह में पानी घुसता और निकलता, वे हा-हा कर रह जाते कि अचानक पिकी छूट गया। मैं उसे खोज नहीं सका। मेरा दम घुट रहा था। अन्नू गरदन से चिपटा हुआ था, मेरे मुँह में भी पानी भरता और निकलता परन्तु मैं तैर कर किनारे की ओर बढ़ने का प्रयास कर रहा था। पर लगा जैसे मैं डूब जाऊँगा—मेरा स्वास थक चुका था—मैं अन्नू के हाथों की पकड़ को ढीला करना चाहता था किन्तु भयभीत अन्नू और भी अधिक दृढ़ता से मेरी गरदन से चिपटा जा रहा था। अचानक मैंने पानी में गोता लगाया; मुझे लगा मैं डूबा और मैंने अपनी गरदन छुड़ाकर स्वास लेने के लिए झटके के साथ अन्नू की पकड़ को छोड़ दिया और डूबते-उतराते अन्नू को अपने दायें पैर से पानी में दूर तक धकेल दिया, जैसे कहीं भाग कर वह मुझे पकड़ न ले और अन्नू लहरों की गोद में रेखा, बेबी और पिकी के समान हो जाने कहाँ खो गया। यह सब ऐसे हो गया जैसे मैं, मैं नहीं था, पिता नहीं था, मनुष्य नहीं था और अपने प्राणों को बचाने के लिए जिसे मैंने मृत्यु के मुँह में धकेल दिया वह मेरी आत्मा का टुकड़ा नहीं था।

सुना ही सुना होगा, टूटा हुआ दिल कभी देखा नहीं होगा, दिल के टुकड़े भी होते हैं किन्तु किसी ने उन्हें बटोर कर जोड़ा नहीं होगा। परन्तु दिल दिल है कि तब भी वह धड़कता है, उसमें गति है। जिस प्रकार टूटे हुए

दर्पण के प्रत्येक टुकड़े में प्रतिविम्ब दिखाई देता है, उसी प्रकार दिल के हर टुकडे में धड़कन होती है, और हर टुकड़ा दूसरे टुकड़े की धड़कन का अनुभव करता है। काश ! वे दिल के टुकड़े जो खो गये हैं, मेरे दिल की धड़कन का अनुभव कर पाते ।

मेरी सारी देह पसीने से लथपथ हो रही थी। हृदय जोरों से धड़क रहा था। चारों ओर शोर-गुल मचा हुआ था। गाड़ी खड़ी थी। मेरे डिब्बे के सभी यात्री लगभग उतर चुके थे। कुली मेरे सामने खड़ा पूछ रहा था-'बाबू जी सामान उतारें ? कहाँ चलना होगा ?' और मैं सोचने लगा- - - - - कहाँ चलना होगा ?